An International Registered Peer Reviewed Bilingual Research Journal

# SATRAACHEE

ISSN 2348-8425

# सत्राची

A Peer Reviewed Research Journal

अंक 42, नं. 1
अक्टूबर-दिसम्बर, 2024

संपादक
आनन्द बिहारी

प्रधान संपादक
कमलेश वर्मा

SATRACHEE

ISSN : 2348-8425

# सत्राची

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की पूर्व समीक्षित त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष 13, अंक 42, नं. 1, अक्टूबर–दिसम्बर, 2024

[ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) द्वारा पूर्व अनुमोदित ]

प्रधान संपादक
**कमलेश वर्मा**

संपादक
**आनन्द बिहारी**

समीक्षा संपादक
**आशुतोष पार्थेश्वर, सुचिता वर्मा**

सह–संपादक
**प्रवीन कुमार यादव, जयप्रकाश सिंह, हुस्न आरा**

सहायक संपादक
**सुशांत कुमार**

सलाहकार समिति व समीक्षा मंडल

अनीता राकेश, सेवानिवृत्त प्रोफेसर, हिंदी विभाग, जे.पी.विश्वविद्यालय, छपरा।
मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, प्रोफेसर, शांति निकेतन, प.बंगाल।
पुष्पलता कुमारी, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, म.म.कॉ., पटना।
नीरा चौधुरी, प्रोफेसर, संगीत, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
अरविन्द कुमार, एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
ब्रज बिहारी पांडेय, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, ओरिएंटल कॉलेज, पटना सिटी।
राजू रंजन प्रसाद, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास, मुजफ्फरपुर।
नीतु चौहान, सहायक प्राध्यापक, शिक्षा विभाग, पटना वीमेन्स कॉलेज, पटना

# SATRAACHEE

*A Peer Reviewed Research Journal*

मूल्य : ₹ **200/-**

सदस्यता शुल्क :

| | |
|---|---|
| पंचवार्षिक | : 5,000 रुपए (व्यक्तिगत) |
| | : 10,000 रुपए (संस्थागत) |
| आजीवन | : 12,000 रुपए (व्यक्तिगत) |
| | : 20,000 रुपए (संस्थागत) |

बैंक खाते का विवरण :

SATRAACHEE FOUNDATION,
A/c No. 40034072172, IFSC : SBIN0006551,
State Bank of India, Boring Canal Rd.-Rajapool,
East Boring Canal Road, Patna, Bihar, Pin: 800001

Google Pay: 9661792414



© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।



संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

प्रकाशक : सत्राची फाउंडेशन, पटना



संपादकीय संपर्क :

आनन्द बिहारी
कला कुंज, दूसरा तल्ला
बाजार समिति रोड, बहादुरपुर, पटना, पिन : 800016

| | |
|---|---|
| Website | : http://satraachee.com |
| | http://satraachee.org.in |
| E-mail | : satraachee@gmail.com |
| Mob. | : 9661792414, 9470738162 (A.Bihari.) |
| | : 9415256226 (Kamlesh Verma.) |


SATRAACHEE

इस अंक में...

**संपादकीय**


05 :: हिंदी कविता की वापसी — *कमलेश वर्मा*


**आलेख**


07 :: बजरंग बिहारी तिवारी का आलोचना कर्म — *आशुतोष पार्थेश्वर*

13 :: हिंदी कविता में आधुनिकतावाद — *सुचिता वर्मा*

17 :: हिंदी दलित साहित्य : अवधारणा, वैचारिकी एवं लेखन का प्रश्न — *रेखा यादव*, *प्रो. तेज नारायण ओझा*

30 :: अंग्रेजी साम्राज्यवाद का अहिंसक विद्रोही — *रवि कुमार झा*

37 :: अभिव्यक्ति की आज़ादी पर प्रतिबंध और प्रेमचंद का 'सोज़े वतन' — *कुमारी उर्वशी*

47 :: वाल्मीकि और तुलसी के रामायण का पुनर्पाठ : विशेष संदर्भों में — *कुमार भास्कर*

67 :: बच्चों के गीतात्मक खेल : स्वरूप एवं शब्द — *अरविंद कुमार*


**मुजफ्फरपुर प्रसंग**


73 :: विश्व का पहला काव्य-भाषा आंदोलन — *वीरेन नंदा*


**पूर्वोत्तर की लाली**


82 :: हम गुलामी की अंतिम हदों तक लड़ेंगे — *अभिषेक कुमार यादव*
(गुलामी की पीड़ा और दायिङ्ग पाओ का उपन्यास 'आखिर कब तक')


**पुस्तक समीक्षा**


89 :: 'नक्शानामा' : काव्य विधा में अभिनव प्रयोग — *राकेश कुमार द्विवेदी*

93 :: मनुष्य के दायित्व-बोध को जगाती कहानियाँ — *अश्वनी शांडिल्य*


**शोधालेख**


96 :: झारखंड का 'आदि-धर्म-दर्शन' : अथातो धर्म-दर्शन जिज्ञासा — *रविरंजन कुमार*

104 :: मौर्यकालीन राजनीति की झलक : मुद्राराक्षस में परिलक्षित सत्ता संघर्ष — *कुमार वीर भूषण*, *डॉ. सत्येन्द्र राय*

109 :: जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में स्त्री जीवन — *शेर सिंह मीणा*

115 :: समकालीन हिंदी कविता के देसी कवि हैं दिनेश कुशवाह — *पंकज कुमार चौधरी*, *डॉ. रमेश प्रसाद गुप्ता*

**125** :: स्वातंत्र्योत्तर भारत का मुस्लिम समाज और शानी की कहानियाँ – *पीयूष राज*

**134** :: 'बसंती' : नारी चेतना का बदलता स्वरूप – *गीता कुमारी*

**140** :: सामासिक संस्कृति निर्माण में बहुभाषिकता की भूमिका – *शशि कुशवाहा*


❖❖❖

संपादकीय

# हिंदी कविता की वापसी

लगता है कि हिन्दी कविता की वापसी हो रही है। कई पत्रिकाओं के कविता विशेषांक प्रकाशित हो रहे हैं। कविता की किताबें अब पेपरबैक संस्करण में तेजी से छप रही हैं। पिछले पंद्रह-बीस वर्षों के पहले कविता-संग्रह प्रायः पुस्तकालय संस्करण में छपते थे। कुछ ही संग्रहों को अजिल्द संस्करण में छपने का मौका मिलता था। पाठ्यक्रमों में शामिल काव्य-पुस्तकों को प्रायः यह योग प्राप्त होता था। इधर के वर्षों में बड़े प्रकाशक भी नये कवियों का पहला ही संग्रह पेपरबैक में प्रकाशित कर रहे हैं। मैं नयी उम्र के कुछ कवियों के संग्रहों का जिक्र कर रहा हूँ जिनका पहला ही संस्करण पेपरबैक में छपा है। ये पुस्तकें विभिन्न प्रकाशनों से छपी हैं; जैसे, **1. फूल तारों के डाकिए हैं - संजीव कौशल, 2025 2. सुख को भी दुःख होता है - श्रुति कुशवाहा, 2025 3. मुझको मंजिल नहीं सफर दे दे - कादम्बिनी सिंह, 2024 4. वक्त की गुलेल - रमेश प्रजापति, 2023 5. जीवन के चाक पर - नीरज नीर, 2025 6. एक जीवन अलग से - रूपम मिश्र, 2023 7. हम गुनहगार और बेशर्म औरतें - कविता कादम्बरी, 2023 8. ईश्वर और बाजार - जसिंता केरकेट्टा, 2022 9. किस-किस से लड़ोगे - पंकज चौधरी, 2022 10. इस जनम की बिटिया - सरिता स्निग्ध ज्योत्स्ना, 2021 11. भीतर का देश - रमेश प्रजापति, 2021 12. अपना लोहा अपनी धार - कमलेश यादव, 2020 13. नदियाँ बहती रहेंगी - राकेश कबीर, 2018 14. बाघ और सुगना मुंडा की बेटी - अनुज लुगुन, 2017**

'संगत' पर अशोक महेश्वरी ने यह बात कही भी कि कविता की किताबों की बिक्री बढ़ी है। मुझे ऐसा लगता है कि 1980 से 2000 के बीच जिन कवियों का बोलबाला रहा उनमें से कम ही ऐसे थे जिनकी काव्य-भाषा में कम धुँधलापन रहा हो! प्रतीकों और रूपकों के प्रयोग के सहारे कुछ ऐसी बात ज्यादा कही गयीं जिनका ठीक-ठीक व्यावहारिक रूपांतरण पाठक के मन में नहीं हो पाता था. राजेन्द्र यादव 'हंस' में कविताएँ छापने को लेकर उत्साहित नहीं रहते थे। उस दौर की प्रायः सभी प्रमुख पत्रिकाओं में परंपरा के निर्वाह के लिए कुछ पृष्ठों में कविताएँ प्रकाशित कर दी जाती थीं। हालाँकि अपने ढंग के महान कवि उस दौर में भी लिख रहे थे। मैं संख्या की दृष्टि से बात कर रहा हूँ कि उस दौर की कविताएँ उस ढंग से संप्रेष्य नहीं थीं जैसी आज की हैं। विमर्शों ने हिन्दी कविता की सर्जरी कर दी। दलित और स्त्री विमर्श के बाद न जाने कितने ढंग से कविता कहने के दरवाजे खुले! आज का कवि इन सब से प्रेरित होकर यह सीख गया है कि किसी के ढंग से लिखने की कोई बाध्यता नहीं है। न विमर्श और न विचारधारा की भाषा को कविता में हू ब हू ढालने की जरूरत है और न ही किसी को गॉड फादर बनाने की जरूरत! कविता का कोई एक मुख्य स्वर अब निर्धारित

नहीं रह गया है।

कविता की वापसी की वजह क्या हो सकती है? इसका जवाब कविता में ही दिखायी पड़ता है। इधर के वर्षों में पूरी दुनिया के सोचने-विचारने की भाषा में फर्क पड़ा है। असहिष्णुता बढ़ी है। समाचार के माध्यम एकदम दूषित हो चुके हैं। जन-आन्दोलन बेरहमी से कुचल दिए जा रहे हैं। ऐसी सरकारों को जनता का समर्थन भी मिल रहा है। देशों के बीच युद्ध को बढ़ावा देनेवाली मानसिकता जनता में भी फलती-फूलती नजर आ रही है। लोकतान्त्रिक संस्थाएँ आज्ञाकारी सेवक के रूप में काम कर रही हैं। जनता को यह सब पसंद भी आ रहा हैं। सरकारी की जगह प्राइवेट बहुराष्ट्रीय कंपनियों की मुनाफा-आधारित संस्कृति तेजी से बढ़ रही है। शोषितों-पीड़ितों के पक्ष निरर्थक मान लिए गए हैं। जाति-जेंडर और अल्पसंख्यक के विरुद्ध होने वाली हिंसा को रोकने के सख्त उपाय अब प्राय: नहीं हो रहे हैं। बहुत कुछ बदल रहा है पूरी दुनिया में और बहुत कुछ बदल चुका है आम जनमानस में!

बौद्धिक वर्ग अब विक्षिप्तों के समूह में शामिल कर लिया गया है। बौद्धिकों को सुनने की सार्वजानिक इच्छा-शक्ति में भारी कमी आयी है। 'काशी का अस्सी' में काशीनाथ सिंह ने एक पदबंध बनाया है- 'चंद चूतियों की च्व्यां-च्व्यां'। बौद्धिकों की गंभीर बहस को अब 'चंद चूतियों की च्व्यां-च्व्यां' की श्रेणी में मान लिया गया है। अब वैसे लोगों को ज्यादा सुना जा रहा है जो काम की बात को विकृत करके चटखारे लेने लायक बना देने की क्षमता रखते हों! बुद्धिजीविता के चेहरे के रूप में हास्यास्पद कुलपतियों को हमारे सामने रखा जा रहा है कि आप इन्हें आज का सर्वोच्च बुद्धिजीवी मानें!

आज घटित होनेवाली घटनाओं पर आप सीधे-सीधे कुछ कहेंगे तो फेरे में फँस जाएँगे! लगता है कि इन दबावों के बीच हिन्दी कविता ने अभिव्यक्ति की राह निकाली है। सीधे नहीं कह सकते तो टेढ़े ही सही! दुनिया की बड़ी से बड़ी ताकत मनुष्य के दिल पर जबरदस्ती राज नहीं कर सकी है। मनुष्यता की कराह ज्यादा दिनों तक बे-असर नहीं रह सकती! वह अपना कमाल दिखाएगी ही! विजेता जीत हासिल भले कर लेता है मगर दुनिया के दिलों को अपने पक्ष में वह कर ही ले यह जरूरी नहीं! कविता मनुष्य का हृदय पक्ष है। कविता बढ़ती है तो समझ लेना चाहिए कि दिल दुखा है। कोई घुटन है जिसे सीधे नहीं निकाला जा सकता इसलिए कविता की पोशाक जरूरी हो जाती है। बधाई देती कविता धिक्कार की भी हो सकती है! नाम लिए बगैर भी किसी खास नाम तक पहुँचने-पहुँचाने की ताकत होती है कविता के पास!

एक दौर के नये कवि कुछ वर्षों तक केदारनाथ सिंह से प्रेरित होते रहे और उनका अनुसरण करते रहे। आज इस तरह की परंपरा खत्म हो चुकी है। सोशल मीडिया और ऑनलाइन माध्यमों ने कविता को सामने लाने के साधन कवि के हाथ में पहुँचा दिए हैं। वहाँ अच्छी-बुरी कविताएँ खूब आ रही हैं। मानक के तौर पर यदि कागज पर छपी कविताओं को देखें तो यह उत्साहजनक लगता है कि हिन्दी कविता की फसल खूब लहलहा रही है। कवि-गोष्ठियों में अभी भी पर्याप्त जीवंतता नहीं आयी है, मगर हो सकता है कि इस दिशा में भी कुछ अच्छा देखने को भविष्य में मिले!

सादर

कमलेश वर्मा

आलेख

# बजरंग बिहारी तिवारी का आलोचना कर्म

❍ आशुतोष पार्थेश्वर✡

*(यह आलेख 20 सितम्बर, 2024 को 'सत्राची सम्मान समारोह' में बीज वक्तव्य के रूप में पढ़ा गया था।)*

बजरंग बिहारी तिवारी हिन्दी के ऐक्टिविस्ट रचनाकार हैं। वे आलोचक हैं और उनकी आलोचना में शोध और विश्लेषण, दोनों का संयोग है। वे एक बौद्धिक हस्तक्षेपकार हैं; उनके हस्तक्षेप का एक सिरा मध्यकाल में है तो दूसरा ठेठ वर्तमान में। वे पिष्टपेषक नहीं हैं, वे इतिहास और परम्परा का समकालीन पाठ करते हैं, और; उनके सहारे युगीन चुनौतियों, संकटों और दबावों के प्रतिकार के लिए पाठकों को मानसिक रूप से तैयार करने की कोशिश करते हैं।

उनके लेखन को मोटे तौर पर दो रूपों में देखा जा सकता है। एक ऐक्टिविस्ट का और दूसरा आलोचक का। हालाँकि, ये दोनों स्वतन्त्र नहीं हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। *दलित साहित्य : एक अन्तर्यात्रा, हिंसा की जाति : जातिवादी हिंसा का सिलसिला, केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य, भक्ति कविता, किसानी और किसान आन्दोलन, किसान आन्दोलन और दलित कविता, बांग्ला दलित साहित्य : सम्यक अनुशीलन, जाति और जनतन्त्र* शीर्षक पुस्तकें उनके ऐक्टिविस्ट होने की, अपने समय के सवालों से जूझते एक नागरिक और एक सचेत-संवेदनशील बौद्धिक के हस्तक्षेप की गवाही देती हैं। उदाहरण के लिए, '*हिंसा की जाति/जातिवादी हिंसा का सिलसिला*' शीर्षक किताब को लें; यह किताब भारतीय समाज में हिंसा के स्वरूपों, कारणों, प्रभावों और स्रोतों की विस्तृत पड़ताल करती है। हिन्दी में ऐसी किताबें कम हैं। इस देश का एक नागरिक, अपने मनुष्य होने की बुनियादी बेचैनी के साथ देश में घटनेवाली हिंसा की विभिन्न घटनाओं और उनके तहदार कारणों को पहचानने की कोशिश इस किताब में करता है। अरुण कमल के शब्दों में कहें तो वह 'अपने' देश से यह बेचैन सवाल करता रहता है कि- *तुम किसकी माँ हो मेरी मातृभूमि!* उसके जेहन में यह बात लगातार कौंधती रहती है कि इस देश में आजादी, लोकतंत्र और संविधान का ख्याल अभी भी किताबी है। यह किताब बताती है कि शारीरिक हिंसा ही हिंसा नहीं है, वह तो हिंसा का बहुत स्थूल रूप है। भाषा-प्रयोग में हिंसा, भाव-भंगिमा में हिंसा, भेदमूलक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए की जानेवाली तमाम चालाकियाँ, समूची व्यवस्था और तन्त्र द्वारा अवसरों को न देना या छीनना, सम्मान के साथ जीवन जीने की न्यूनतम जरूरतों

---

✡ *प्रोफेसर, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।*

से वंचित रखना– ये भी हिंसा के ही रूप हैं और ये ही शारीरिक हिंसा के लिए जमीन तैयार करने वाले कारक हैं।

*'हिंसा की जाति/जातिवादी हिंसा का सिलसिला'* किताब में दलित समाज के साथ की जानेवाली क्रूरता की कुछ घटनाओं की रिपोर्टें हैं। ये रिपोर्टें क्यों पढ़ी जानी चाहिए– लेखक की संवेदना, उसका जुड़ाव, उसकी तथ्यपरकता, और उसका साहस–किताब में ये सारे चीजें तो हैं ही; यह किताब इसलिए भी पढ़ी जानी चाहिए कि इसमें वे प्रामाणिक ब्योरे दर्ज हैं जो चीख–चीख कर बताते हैं कि आजादी के इतने वर्षों बाद, कोई घटना– जिसमें हत्या या हत्याएँ होती हैं, घर जलाया जाता है या जलाए जाते हैं, स्त्रियाँ बलत्कृत होती हैं– वह घटना पीड़ित परिवार के दायरे से बाहर– समूचे समाज, तन्त्र और समूची व्यवस्था के लिए सच्चे आक्रोश और सच्ची संवेदना का सबब नहीं बन पाता है। यह किताब सवाल पूछती है कि ऐसा क्यों होता है? इस किताब में स्वार्थ और लाभ–लोभ के गणित से प्रभावित चालाकियों की कई भरोसेमन्द गवाहियाँ हैं। और, वे बेहद चिन्ताजनक हैं। राजनैतिक दलों के लिए ऐसी घटनाएँ तभी और उतनी ही चिन्ता का विषय बनती हैं, जिनसे उनकी राजनीति चलती रहे। सच को सच कहने और हमेशा उसी रूप में कहने का साहस आज की राजनीति में वैसे भी नहीं है। यह कहने वाली बात नहीं है कि पुलिस और प्रशासन का रवैया राजनैतिक या सम्पन्नशील तबके के निर्देशों से प्रभावित होता है। शायद ही कोई घटना हो जिसमें प्रशासनिक व्यवस्था पर पीड़ितों को भरोसा हो और उनकी कार्रवाई पर सन्तोष हो। हमें यह सवाल पूछना चाहिए कि इतने वर्षों में हमने कैसी व्यवस्था विकसित की है? यह तन्त्र इतना असंवेदनशील क्यों है? इस किताब में संकलित रिपोर्टें बताती हैं कि बर्बरता की सबसे आसान शिकार दलित स्त्रियाँ होती हैं। दूसरी बात, दलितों का उत्पीड़न केवल सवर्णों द्वारा नहीं होता, स्थान विशेष पर इसमें कई प्रभावशाली पिछड़ी जातियाँ भी पीछे नहीं रहतीं। वे दलितों की हकमारी में सवर्णों से कम नहीं हैं। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि लोकतन्त्र, आरक्षण और शिक्षा के बावजूद, आधुनिक और तार्किक होने की जगह, पिछड़ी जातियों में नवब्राह्मण होने का जो रोग उभरा हो, वह समाज को यथास्थितिवादी और जड़ बनाए हुए है और उन्हें पुराने रोगों से मुक्त नहीं होने दे रहा है, उसके कई उदाहरण इस किताब में दर्ज हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है 2019 का साल और मध्यप्रदेश के शिवपुरी जिले का भावखेड़ी गाँव–

> *"स्कूलों में तो साफ तौर पर भेदभाव दिखता है। आपको वहाँ पानी पीने का कोई बर्तन नहीं दिखेगा। बच्चे उठ–उठकर हैंडपम्प पर जाकर पानी पीते हैं। पानी पीने का कोई गिलास या जग होगा तो सभी जातियों के बच्चे उसे छुएँगे। इससे बचने के लिए बर्तन ही नहीं रखे जाते।.....यादवों की दबंगई है। हमारे लिए चाय का बर्तन अलग होता है। ऐसे अपमान से बचने के लिए हम उनके दरवाजे पर नहीं जाते। उन्होंने सेन परिवार को हमारे बाल काटने से रोक रखा है। हम जाटव लोग खुद ही एक दूसरे की कटिंग करते हैं। वे भैंस के बाल काट सकते हैं लेकिन हमसे छुआछूत बरतते हैं।"*

इसी रिपोर्ट में यह दर्ज है कि गाँव के मन्दिर में जाने का अधिकार यादवों तक ही है। शेष जातियों के लोग बाहर से दर्शन करते हैं। इसी रिपोर्ट में यह भी दर्ज है कि शिवपुरी शहर के श्रीराम कॉलोनी में अगल–बगल दो दुर्गा मन्दिर हैं। एक ब्राह्मणों का दूसरा वाल्मीकियों का। 'दुर्गा मन्दिर' एक नहीं है। रोचक यह है कि ब्राह्मणों के मन्दिर से अधिक भीड़ वाल्मीकियों के मन्दिर में है।

यह रिपोर्ट सवाल पूछना चाहती है कि वाल्मीकियों के दुर्गा मन्दिर में अधिक भीड़ क्यों है? मन्दिर के महन्त ने दलित समाज के प्रतिनिधियों के रूप में दो नाम लिए– एक वाल्मीकि का दूसरा बाबा साहब का। यह रिपोर्ट सवाल पूछना चाहती है कि ऐसा क्यों हुआ कि दलित समाज बाबा साहब के साथ खड़े होकर शिक्षा,

बराबरी और हक की माँग करता है; किन्तु वाल्मीकि के नाम पर परम्परित चक्रव्यूह में क्यों फँसकर रह जाता है? जाहिर है कि ब्राह्मण व्यवस्था में संकेतों-प्रतीकों का बहुत महत्त्व होता है। यथास्थितिवादियों का हित ऐसे प्रतीकों से ही चल जाता है, किन्तु दलित समुदाय का ऐसे प्रतीकों में उलझ-उलझ कर रह जाना चिन्ताजनक है। आजादी के बाद मेहनतकश तबके ने अपने हक की बहुत सी चीजें अपनी मेहनत और शिक्षा से प्राप्त कीं। उन्होंने गाँवों में जमीनें खरीदी, वैधानिक बराबरी पाई; किन्तु इसके साथ-साथ नवब्राह्मण बनने का रोग भी अपनाया। कहना न होगा कि यह प्रवृत्ति आत्मघाती हो रही है, क्योंकि नवब्राह्मण बनने का यह लोभ उन्हें बाबासाहब और संवैधानिक मूल्यों से दूर ही ले जाता है।

इस किताब में एक बेहद रोचक रिपोर्ट है- '*निरहू से नेहरू*'। सपही गाँव के निरहू का नेहरू बाबा बनना- दलित निरहू अपनी जाति में शादी ब्याह कराता है, उसके झाड़-फूँक का जलवा दूसरी जातियों में भी फैला हुआ है, ब्राह्मण वर्चस्व को उसने चुनौती दी है, किन्तु इसी बीच उसके बड़े बेटे की मृत्यु हो जाती है। बजरंग बिहारी तिवारी ने बहुत वाजिब चिन्ता इस रिपोर्ट में दर्ज की है, "*चोट खाया सवर्ण समाज इस दुर्घटना को 'कर्मफलवाद' के धूर्त सिद्धान्त से जोड़कर नई चाल चल सकता है।*" दलित समाज के लिए यह कोई अकेला खतरा नहीं है। ऐसे कई संकटों की निशानदेही इस किताब में की गई है।

बजरंग बिहारी तिवारी ने भारत के दलित आन्दोलन और लेखन की जिस व्यापकता से पड़ताल की है वह न तो रस्मी है और न ही खानापूर्ति है। वे दलित वैचारिकी के विश्लेषण के क्रम में दो प्रकार की भारतीयता की चर्चा करते हैं। पहली, पूर्ववर्ती भारतीयता- जिसका सम्बन्ध सहजयानी और सन्तों की परम्परा से है तो नई भारतीयता, आम्बेडकर और उत्तर आम्बेडकर युग की चेतना है। लेखक ने विस्तार और उदाहरणों से इन दोनों की तुलना की है। लेखक का मानना है कि नई प्रकार की भारतीयता प्रतिरोधी चेतना से सम्पन्न है। यह प्रतिरोधी चेतना नवीन है। क्योंकि प्रतिरोध तो भक्ति आन्दोलन में भी है, किन्तु बीसवीं सदी से शुरू हुआ प्रतिरोध राजनैतिक, सामाजिक और आन्दोलनधर्मी है। वर्णवादी व्यवस्था के शीर्ष पर बैठा समूह अपनी चालाकी से सन्तों की शिक्षा और मध्ययुगीन सुधार प्रयासों को खासा डायल्यूट करने में सफल रहा है; किन्तु इस नई चेतना, इसकी सामूहिकता और आक्रामकता का मुकाबला आसान नहीं है। उल्लेखनीय है कि यह आक्रामकता प्रायः हिंसक नहीं रही है। वे लिखते हैं, "*तमाम प्रलोभनों, परिस्थिगत बाध्यताओं और परिवेशगत प्रेरणाओं के बावजूद अगर दलित आन्दोलन अहिंसक बना रहा तो इसका श्रेय आम्बेडकर के चिन्तन और तद्नुरूप क्रियाशीलता को जाता है।*" वे एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता चिह्नित करते हैं- वह है दलित साहित्य का सार्वदेशिक होना और एक दूसरे से जुड़ा होना। इस सार्वदेशिकता के निर्माण में भी डॉ. आम्बेडकर की केन्द्रीय भूमिका है।

बांग्ला दलित साहित्य : सम्यक अनुशीलन (2016) से गुजरते हुए हम समझ सकते हैं कि भारत में वामपन्थी राजनीति के रहते और एक दौर में बेहद प्रभावपूर्ण होते हुए भी दलित वैचारिकी और दलित विमर्श की जरूरत क्यों पड़ी? इसी से जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न है- भारत में वामपन्थ के निरन्तर पिछड़ते जाने का। इसके कारणों में प्रमुख है- वामपन्थी राजनैतिक नेतृत्व में उच्चवर्णीय समूह का प्रभुत्व। बांग्ला दलित आन्दोलन और साहित्य का संक्षिप्त इतिहास लिखते हुए लेखक ने दो टूक लिखा है- "*सवर्ण भावबोध और साम्यवादी चिन्ता का सह अस्तित्व सम्भव नहीं। दोनों में से किसी एक को छद्म मानना ही पड़ेगा।*" सुभाष मुखोपाध्याय की निम्नलिखित काव्य पंक्तियाँ वहाँ उचित ही उद्धृत हैं-

*पोशाक के नीचे जनेऊ और*
*आस्तीन के अन्दर ताबीज ढककर*
*एक खाँटी कुलीन के बच्चे ने*

*मुझे साफ-साफ समझाया*
*कि दुनिया को किस तरह से बदलना होगा*

सन्दर्भ बंगाल का है, पर केवल बंगाल का नहीं, भारत में वामपन्थ अधिकांशत: इसी रवैये पर चलता रहा है। और, चलते हुए अपनी 'गति' प्राप्त कर रहा है! *केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य* (2020) शीर्षक पुस्तक में भी इन सवालों पर पर्याप्त और ठोस चर्चा है। दोनों किताबों वामपन्थी राजनीति और जाति-प्रश्न के अन्तर्सम्बन्ध को बेहद विस्तार से सम्बोधित करने का प्रयास करती हैं।

प्रसंगवश, बंगाल वाली किताब की 'भूमिका' पर चर्चा अपेक्षित है। किताब की 'भूमिका' बजरंग बिहारी तिवारी के विचारों से असहमत होने का अवसर देती है। लेखक के अनुसार, "*बांग्ला दलित लेखक किसी के समक्ष शिकायतों का पुलिन्दा लेकर प्रस्तुत नहीं होते। वैसे तो कई भाषाओं के दलित साहित्यकार धीरे-धीरे शिकायती शैली की व्यर्थता समझ गए और उन्होंने अपने को इससे मुक्त कर लिया लेकिन यह विशेषता बांग्ला दलित लेखन में प्रारम्भ से ही दिखती है।*" बांग्ला दलित लेखन की विशेषता रेखांकित करते हुए बजरंग बिहारी तिवारी जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह पूरी तरह स्वीकारा नहीं जा सकता। प्रश्न यह है कि जिस 'शिकायती शैली' का न होना, बांग्ला दलित लेखन की उपलब्धि के रूप में रेखांकित किया गया है, क्या वह सचमुच निरर्थक है? क्या वह दूसरी भाषाओं के दलित लेखन की सीमा है? कमजोरी है? क्या वह उसके महत्त्व को कम करता है? क्या दलित लेखन में 'शिकायती शैली' नहीं होनी चाहिए। क्योंकि, जब यही 'शिकायती शैली' का न होना किसी भाषा विशेष के दलित लेखन की विशेषता है तो स्पष्ट है कि दूसरी भाषा में उसकी उपस्थिति कमजोरी ही कही जाएगी। इस प्रश्न का एक दूसरा पक्ष भी है। वह पहले प्रश्न की तुलना में अधिक जवाबदेही, संवेदनशीलता और गम्भीरता की अपेक्षा करता है। वह पक्ष यह है कि क्या भारत के दलितों की जीवन स्थितियाँ इतनी बदल चुकी हैं कि उन्हें अब 'शिकायती शैली' से मुक्त हो जाना चाहिए या कम-से-कम दलित विचारकों को इस विषय में अब आत्मालोचन अवश्य करना चाहिए। प्रश्न यह भी है कि बजरंग बिहारी तिवारी का कथन अभिधात्मक है या व्यंग्यात्मक। क्योंकि; शिकायत, वेदना, आक्रोश- ये एक दूसरे से जुड़े होते हैं। और, अगर हमारी सामाजिक संरचना में शिकायतों की सम्भावना एवं उसके कारक मौजूद हैं; वैसे में 'शिकायतों का पुलिन्दा' भला कैसे व्यर्थ हो सकता है?

बजरंग बिहारी तिवारी का एक अन्य मत है कि "*याचना भाव और दम्भोक्ति दोनों से बचते हुए बांग्ला दलित साहित्य ने अन्य भारतीय भारतीय भाषाओं के दलित साहित्य की तुलना में किंचित् विलम्ब से अपनी यात्रा शुरू की।*" यहाँ, विलम्ब पर चर्चा अनपेक्षित है। प्रश्न उससे बड़ा है और वह यह है कि 'दम्भोक्ति' से क्या अर्थ ग्रहण किया जाए? प्रश्न यह भी है कि क्या बांग्ला से इतर दूसरी भाषाओं के दलित लेखन में यह 'याचना भाव और दम्भोक्ति' इतनी गहराई से विन्यस्त है कि वह बांग्ला दलित लेखन में एक न दिखाई देनेवाली पहचान बनकर उभरती है।

बंगाल वाली किताब की तुलना में केरल पर केन्द्रित पुस्तक अधिक महत्त्वपूर्ण है। *केरल में सामाजिक आन्दोलन और दलित साहित्य* (2020) पुस्तक में केरल का राजनैतिक-सामाजिक इतिहास है, वह भी कोई एक-दो दशक का नहीं, दलित लेखन और वैचारिकी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कई सदियों का। वह बहुत पठनीय है, इसलिए कि वह सुविचारित तथा शोध और श्रम से प्रस्तुत है। और, उसमें भी प्राय: प्राथमिक स्रोत के पास पहुँचकर, उससे परिचित होकर। केरल कई मायने में विशिष्ट राज्य है। वह धार्मिक बहुलता वाला राज्य है और जातियों की दृष्टि से भी विविधता वाला। इस विविधता में श्रेणीक्रम है। भूमि सुधार के कार्यक्रम वहाँ चले हैं, शिक्षा का स्तर वहाँ ऊँचा है, बावजूद गरीबी कम नहीं है। वहाँ भी दासप्रथा रही है। जैसे, इस देश के दूसरे

हिस्सों में। इस किताब में दास प्रथा के इतिहास, उससे मुक्ति और केरल के विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों की प्रक्रिया का परिचय है। किन्तु, महज परिचय से ही यह किताब महत्त्वपूर्ण नहीं हो जाती है। एक अन्तर्दृष्टि पूरी किताब में है। पूरी किताब में बजरंग बिहारी तिवारी आलोचक से अधिक एक नैरेटर के रूप में अधिक दिखाई देते हैं। एक किस्सागो, जो कई-कई कहानियों को, कई-कई व्याख्याओं को पढ़कर, समझकर, आत्मसात कर सच्चाई को थाहता हुआ, पकड़ता हुआ, केवल तथ्य नहीं सत्य को पाठकों तक पहुँचाना चाहता है। सम्भवतः, इसीलिए यह किताब अधिक सफल भी है।

दलित साहित्य, दलित आन्दोलन और दलित वैचारिकी के सम्बन्ध में बजरंग बिहारी तिवारी की कुछ प्रमुख स्थापनाएँ इस प्रकार हैं-

1. दलित जीवन को ध्यान में रखकर लिखा गया गैर दलितों का साहित्य ग्लानि बोध पैदा करता था या करने की इच्छा रखता था जबकि दलित रचनाकारों का लेखन स्वातन्त्र्य चेतना से निर्मित अधिकार बोध जगानेवाला लेखन है।
2. इस अधिकार बोध के मूल में भावुकता नहीं, सुचिन्तित आक्रोश है। और, यह आक्रोश अस्मिता निर्माण से सम्बद्ध है। इससे प्रकट आक्रामकता आती है।
3. इस आक्रोश के मूल में जातिजनित वेदना है। और, इस वेदना से एक विशेष प्रकार की तरलता उत्पन्न होती है जिससे सामुदायिकता और संगठन का निर्माण होता है।
4. वेदना से उत्पन्न है- नकार। यह नकार दलित साहित्य का मूलभूत गुण है। नकार-गुलामी से, यन्त्रणा से, मान्यताओं और सवर्णवादी मूल्यों से। नकार का अगला चरण है- विश्लेषण। विश्लेषण के अन्तर्गत है--समूची मान्यताओं का विश्लेषण, सवर्ण व्याख्याओं का विश्लेषण।
5. विश्लेषण से उपजा है- आत्मालोचन। आत्मालोचन के मूल में तीन बिन्दु हैं- क. वैयक्तिक स्तर पर अपनी विफलताओं और चूकों का स्वीकार, ख. आन्तरिक जातिवाद की समस्या पर विचार, ग. दलित स्त्रियों की दुर्दशा पर विचार।
6. दलित साहित्य के मूल में अनुभव है। और, इस अनुभव के मुख्यतः तीन क्षेत्र हैं- अवमानना, भूख और हिंसा। ये तीनों एक दूसरे से जुड़े हैं और स्वतन्त्र भी हैं।
7. अवमानना का अर्थ दलित को मनुष्य न मानना या उससे कमतर मानना। इस समझ का स्रोत धर्म शास्त्र हैं।
8. भूख का स्रोत आर्थिक संरचना में है। भारत में अर्थसत्ता धर्म सत्ता को अनुकूलित किए रहती है। इसलिए प्रायः आर्थिक संरचना धार्मिक चेहरे के रूप में दिखाई देती है।
9. तीसरी बात हिंसा की; अवमानना और भूख- ये भी हिंसा के रूप हैं। इनसे इतर हिंसा का एक साक्षात और भौतिक रूप भी होता है। आवश्यक नहीं कि हिंसा करनेवाले केवल ब्राह्मण धर्मग्रन्थों के अनुयायी हों। हिंसक वे भी हो सकते हैं जो उनके अनुयायी न हों।
10. धर्मग्रन्थों को सभी तरह की पीड़ाओं का स्रोत मान लेना सहूलियत के लिहाज से भले उचित हो, किन्तु यथार्थ तक पहुँचने में यह दृष्टि बाधक है।

भक्ति साहित्य बजरंग बिहारी तिवारी के अध्ययन का दूसरा प्रमुख क्षेत्र है। उनका बेहद चर्चित लेख है- भक्ति के बृहद् आख्यान में सत्पुरुषों की पीड़ा। उस लेख में रामचन्द्र शुक्ल हैं, हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं, नामवर सिंह हैं, रामस्वरूप चतुर्वेदी हैं, मैनेजर पांडेय हैं, दीनदयाल गुप्त हैं, वल्लभाचार्य हैं, सूर हैं, तुलसी हैं; मोहम्मद बिन कासिम से लेकर मुगलिया दौर के अन्तिम दिनों तक का जरूरी लेखा-जोखा है। इस लेख का कोर प्वाइंट

है–सत्पुरुषों की पीड़ा– ये सत्पुरुष कौन हैं? उनकी पहचान इस लेख में कायदे से कराई गई है।

बजरंग बिहारी तिवारी के भक्तिकाल विषयक अध्ययन की एक अन्य उल्लेखनीय बात है कि वे भक्तिकाल को ग्रैंड नैरेटिव बनाने के पक्ष में नहीं है। बल्कि ऐसी कोशिशों को वे व्यर्थ मानते हैं। हम जानते हैं कि मार्क्सवादी लेखकों ने भी ऐसी कम कोशिशें नहीं की हैं। वे अन्तर्विरोधों को ढँकने की कोशिश करते रहे हैं। जबकि बजरंग बिहारी तिवारी ऐतिहासिक साक्ष्यों के सहारे सत्पुरुष की पहचान कराते हुए इतिहास को इतिहास के रूप में देखने की सलाह देते हैं, न कि आख्यान या महाख्यान के रूप में। इस दौर में जब राष्ट्र, धर्म और राजनीति का अमृतकाल चल रहा है; प्रत्येक घटना को ग्रैंड नैरेटिव में बदलने की कोशिश की जा रही है; वह लेख बार–बार पढ़ा जाना चाहिए।

अन्तिम बात; बजरंग बिहारी तिवारी की आलोचना शैली के सम्बन्ध में; उसकी खास विशेषता है– बातों को क्रम से रखना। वे किसी समस्या के विभिन्न सिरों की स्वतन्त्र पहचान तो कराते हैं, पर उन्हें जोड़ते हुए। वे जिस प्रकार यह जुड़ाव चिह्नित करते हैं, वह उनके लेखन को पठनीय बनाता है। बजरंग बिहारी तिवारी को पूरा पढ़ जाइए– आप अटकेंगे नहीं। कहीं शाब्दिक लफ्फाजी नहीं; न तो गैरजरूरी नाम गिनाने की जरूरत और न ही भारी–भरकम शब्दों की शाहखर्ची। विषय पर आने से पहले वे अतिरिक्त भूमिका भी नहीं बनाते। सीधे विषय पर। बिलकुल पारदर्शी गद्य। चूँकि भाषा अर्जित की जाती है तो यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि बजरंग बिहारी तिवारी ने अपने सामाजिक सरोकारों से, फील्ड वर्क से, जनता से सीधे जुड़ाव से यह भाषा अर्जित की है।

❑❑❑

# हिंदी कविता में आधुनिकतावाद

❍ सुचिता वर्मा✡

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल की शुरुआत 1850 से मानी जाती है। नामवर सिंह ने अपनी किताब 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और रहस्यवाद पर विचार किया है। इन चार प्रवृत्तियों में सबसे पहले 1918 में छायावाद की शुरुआत हुई थी। आधुनिकता का अर्थ प्राय: मध्यकालीन समझ से मुक्ति के रूप में ग्रहण किया गया. इस समझ में मुख्य भूमिका धर्म और विज्ञान की स्वीकृति-अस्वीकृति की थी। मध्यकालीन समझ में जितना महत्त्व धर्म को दिया गया था, आधुनिकता में उतना नहीं दिया गया। अनेक प्रसंगों में धर्म की भूमिका की निंदा की गयी। विज्ञान ने आधुनिकता को इस समझ से पुष्ट किया कि जीवन-जगत को समझने के लिए धर्म और ईश्वर की उतनी जरूरत नहीं है जितनी अब तक मान ली गयी थी। विज्ञान और तकनीक के विकास से मनुष्य का सामाजिक और दैनिक जीवन सुविधा-संपन्न हुआ। सभ्यता के विकास के इस बाहरी रूप को भी आधुनिकता से जोड़कर देखा गया।

इस तरह हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में 'आधुनिक काल', 'आधुनिक प्रवृत्तियाँ' और 'आधुनिकता' के अलग-अलग अर्थ हैं। यहाँ हमारा उद्देश्य यह समझना है कि हिन्दी कविता में 'आधुनिकतावाद' (Modern-ism) की प्रवृत्ति को किस तरह से रेखांकित किया जा सकता है। 'आधुनिकतावाद' का सीधा अर्थ आधुनिक काल, आधुनिक प्रवृत्तियाँ और आधुनिकता से जुड़ा हुआ नहीं है। मगर इसकी अवधारणा के निर्माण में इन सब की भूमिका जरूर है। इन शब्दों को विकसित करने और अर्थ-ग्रहण करने में पश्चिम जगत के योगदान से इंकार नहीं किया जा सकता है।

'आधुनिकतावाद' मूलत: पैटर्न के खिलाफ है। वह मानता है कि साँचों को तोड़ना चाहिए। किसी व्यवस्था या क्रम में कृतियों का निर्माण नहीं होना चाहिए। कविता हो कोई कला-रूप उसे किसी ढाँचे-ढर्रे में ढालने का प्रयास नहीं करना चाहिए। प्रत्येक कृति को अपनी आकृति स्वयं ग्रहण करने देना चाहिए। कृतिकार को यह भरोसा रखना चाहिए कि उसकी कृति अपने अर्थ तक, बिना किसी पूर्व साहित्यिक धारणा के, पहुँच सकती है। समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था, दर्शन आदि से प्राप्त विचारधाराओं के सहारे कृति का निर्माण वास्तव में किसी साँचे का सहारा लेना है। ऐसी रचना पर पृष्ठभूमि से प्राप्त अर्थ का दबाव होता है। ऐसी कृति अर्थ की स्वतंत्र छवि का निर्माण नहीं कर सकती है।

कहा जा सकता है कि इस प्रयास में रचनाकार की पूर्ण स्वतंत्रता का उद्घोष है। आधुनिकतावाद लेखक

✡ *एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, औराई, भदोही, उ.प्र.।*

को पूरी स्वतंत्रता देता है कि वह स्वयं को व्यक्त करे! इस अभिव्यक्ति में समाज और समय को प्रतिबिंबित करने की ऐसी लेखकीय शक्ति हो जो किसी अन्य स्रोत पर आश्रित न हो! बच्चन सिंह ने 'आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है,

"हिन्दी में आधुनिकतावादी गतिविधियों के आविर्भाव का वर्ष 1941 हो सकता है। इसी वर्ष अज्ञेय की 'शेखर : एक जीवनी' का प्रकाशन हुआ जो पारंपरिक रूप और नैतिक मान्यताओं को बुरी तरह ध्वस्त कर देता है। पर सही अर्थ में इसकी शुरुआत का सिलसिला सन् 60 से चलता है और वह एक आन्दोलन का रूप ले लेता है। कल्पना, ज्ञानोदय, नयी कविता में ढेरों लेख छपे। इसके मूल मंत्र व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर 1955 में आलोचना में अनेक सम्मतियाँ प्रकाशित हुई. पर पश्चिम का आधुनिकतावाद एशिया का आधुनिकतावाद नहीं हो सकता।"[1]

आधुनिकतावाद हिन्दी में आया और अपनाया भी गया, मगर इसे आलोचना और निंदा का शिकार शुरू से ही होना पड़ा। पश्चिम की परिस्थितियों से उपजी हुई साहित्यिक समझ को हिन्दी में आसानी से ग्रहण कर पाना सम्भव नहीं था। मगर इस अवधारणा में कुछ ऐसी बातें थीं जो हिन्दी पाठकों को नयेपन से परिचित कराती थीं और आकर्षित करती थीं। इस बात का सशक्त प्रमाण 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास है। इस उपन्यास ने विवादित लोकप्रियता हासिल की। इसे पसंद करनेवाले जितने आग्रहशील थे, उतने ही नापसंद करनेवाले भी! इस उपन्यास ने पारिवारिक और समाजिक समझ को जबरदस्त चुनौती दी थी। इसने उपन्यास, जीवनी और आत्मकथा का ऐसा मिश्रण तैयार किया था जो विधागत शिल्प का नया रूप था। मगर यह रूप इतना मौलिक था कि फिर कोई दूसरा उपन्यास इस ढाँचे में नहीं रचा जा सका। यह भी कहा जा सकता है कि यह ढाँचा इतना अस्थिर और अमूर्त है कि इसका अनुकरण सम्भव नहीं है। वैयक्तिकता की सशक्त पहचान छायावाद में बनी थी मगर व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चरम परिणति आधुनिकतावाद में हुई। उस वैयक्तिकता के सहारे सामाजिक बंधनों से मुक्ति का प्रयास था, मगर इस व्यक्ति-स्वातंत्र्य में किसी भी तरह के अनुशासन को मानने से इंकार करने पर जोर था।

हिन्दी कविता में इसकी अभिव्यक्ति की शुरुआत 'तारसप्तक' (1943) की कुछ कविताओं में मिलती है। मगर मुख्य रूप से नयी कविता (साठोत्तरी कविता) ने आधुनिकतावाद को व्यक्त किया। नयी कविता के कवियों में प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवियों के विकास को संयुक्त रूप से शामिल किया जाता है। अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, भवानीप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, विजयदेव नारायण साही आदि कवियों के सम्मिलित स्वर से नयी कविता का निर्माण हुआ था। इन कवियों में प्रगतिवादी भी शामिल थे और प्रयोगवादी भी! मगर नयी कविता के दौर में इन सबके पुराने आग्रहों में कमी आयी थी। विचारधारा से बँधी हुई सामाजिकता को अतिक्रमित करते हुए नागार्जुन जैसे प्रगतिवादी कवि देखे गए। प्रयोग के मनमाने आग्रह भी कम हुए। रूप और कथ्य में संतुलन बनाने की कोशिश की जाने लगी। नयी कविता किसी एक पहचान के साथ काम नहीं कर रही थी। वह अपने दौर की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियों को खुद में समेटने का प्रयास कर रही थी। उसकी मुख्य पहचान पर आधुनिकतावाद का असर एक सीमा तक अवश्य पड़ा। इस असर के कारण वह कवियों को उन्मुक्तता दे सकी। कविता के किसी भी रीतिबद्ध विषय या रूप को अपनाने के बजाए इस दौर के कवियों ने अपने काव्य-क्षेत्र में नए प्रयोगों को तरजीह दी।

अज्ञेय और शमशेर बहादुर सिंह की कविताओं में आधुनिकतावाद की प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया जा सकता है। अज्ञेय ने आजादी के ठीक बाद अक्टूबर, 1947 में 'शरणार्थी' शीर्षक से कई कविताएँ लिखी थीं. इन कविताओं का संबंध भारत-विभाजन से है. विभाजन की त्रासदी को व्यक्त करती ये कविताएँ

प्राय: बिम्बों के सहारे बात करती हैं. बिम्बधर्मिता ने इन कविताओं को रूप का नयापन दिया है. अज्ञेय ने इन कविताओं में आजादी और उससे जुड़ी विभाजन की घटना को जिस दृष्टि से देखा है उसका मेल उस जमाने की किसी भी राजनीतिक वैचारिकी से नहीं हो पाता है. वे इस घटना को मानव समुदाय पर पड़नेवाले असर के रूप में देखते हैं. आधुनिकतावाद ने हिन्दी कविता को विभिन्न आग्रहों से मुक्त होकर रचने की दृष्टि दी. अज्ञेय की इस कविता को नमूने के रूप में देखा जा सकता है,

> दो साँप
> चले जाते हैं
> बँध गयी है लीक दोनों की।
> यह हमारा साँप –
> हम जा रहे हैं उस ओर, जिस में सुना है
> सब लोग अपने हैं;
> वह तुम्हारा साँप –
> तुम भी जा रहे हो, सोचते निश्चय, कि वह तो देश है जिस में
> सत्य होते सभी सपने हैं।

कविता के इस अंश में भारत–पाकिस्तान के बीच शरणार्थियों की आवाजाही को जिस दृष्टि से देखा गया है, उस पर विचार करने की जरूरत है। अज्ञेय इस निर्वासन को साँप की लकीर की तरह देख रहे हैं। यह लकीर साम्प्रदायिकता के जहर से बनी है। शरणार्थी दोषी नहीं हैं, उनके इधर से उधर जाने की परिस्थिति में विषैलापन है। जहरीले वातावरण में एक पक्ष अपनी लकीर को देख रहा है तो दूसरा पक्ष अपनी लकीर को! दोनों पक्ष यही सोच रहे हैं कि हम अपने नये देश की ओर जा रहे हैं। यह नया देश हमारा है और पुराना देश हमारा नहीं है। उस देश में हमारे सभी सपने सच होंगे! वहाँ के लोग हमारे अपने हैं! अज्ञेय ने विस्थापित हो रही जनता की मनोदशा को इन पंक्तियों में रखा है। विभाजन के पक्ष–विपक्ष पर यहाँ कोई बहस नहीं है। धर्म–निरपेक्षता के औचित्य पर विचार–विमर्श करके इस पलायन की निरर्थकता को सिद्ध करने का कोई प्रयास यहाँ दिखायी नहीं पड़ता है। राजनीतिक–सामाजिक प्रश्नों पर चिंतन करते हुए अज्ञेय बार–बार आधुनिकतावाद से दृष्टि प्राप्त करते हुए दिखायी पड़ते हैं।

शमशेर बहादुर सिंह ने अपनी अनेक कविताओं में संगीत, चित्रकला, लिपि की बनावट और पेंटिंग के आधार पर जो प्रयोग किए हैं उन सब के सूत्र आधुनिकतावाद के भीतर ही मौजूद हैं। 'टूटी हुई बिखरी हुई' जैसी कविता का निर्माण इस पृष्ठभूमि के बगैर हो ही नहीं सकता था। इस कविता का केवल शीर्षक ही नहीं है 'टूटी हुई बिखरी हुई', बल्कि पूरी कविता का भावबोध भी जान–बूझकर टूटा हुआ और बिखरा हुआ बनाया गया है। इस कविता में चाहे प्रेम की बात की गयी हो या दैनिक जीवन के सामान्य प्रसंगों की, उनमें बिखराव की जो सुंदरता फैली हुई है वही इस कविता की प्राणधारा है। हिन्दी कविता की पुरानी आस्वाद–परंपरा पर यह कविता फिट नहीं बैठती है। इसमें किसी सुनियोजित क्रम की तलाश पूरी हो ही नहीं पाती है। यह कविता अपनी बोधगम्यता में दुरूह मालूम पड़ती है, क्योंकि इसके टुकड़े–टुकड़े की अर्थवत्ता पर आपको सोचना होगा। इसके टुकड़ों को जोड़ने की कोई जिद सफल नहीं हो सकती है। सम्पूर्णता, विराटता, असीम, अनंत आदि की अवधारण मानो यहाँ सार्थक हो ही नहीं सकती है। जयशंकर प्रसाद ने 'लघुता के प्रति साहित्यिक दृष्टिपात' की बात की थी और विजयदेव नारायण साही ने 'लघु मानव' की। लघुता ने विराटता की तुलना में सच को व्यक्त करने में मानो ज्यादा विश्वसनीयता हासिल कर ली। अब विराट पर भरोसा करना मुश्किल जान पड़ा और लघुता को जानने में क्रम में आत्मविश्वास बढ़ता गया।

शमशेर ने 'पीली शाम' कविता में पत्नी की आसन्न मृत्यु के बिम्ब को एक पीले पत्ते के रूप में बनाने की कोशिश की। पत्ता तो पीला है ही, वह शाम भी पीली है, पतझर का पत्ता है वह! मानो किसी की देह से खून सूख चुका हो! इस कविता में पत्नी का न तो नाम लिया गया है और न ही इसके बारे में कुछ बताया गया है। 'तुम' और 'मैं' की स्मृति-आधारित कुछ बातें इस कविता में आयी हैं। पूरी कविता दु:ख और अवसाद में डूबी हुई है। शमशेर ने एक ऐसा वातावरण सृजित किया है जो केवल शब्दार्थ के सहारे नहीं समझा जा सकता है। भाषा की अंतिम शक्ति तक पहुँचकर पाठक को सोचना-विचारना पड़ता है और प्रयास करना पड़ता है कि कलात्मकता के स्तरों को भेदते हुए उसके तात्पर्य तक पहुँचा जाए! कलात्मक विशेषताओं के कारण शमशेर को 'कवियों का कवि' कहा जाता है। शमशेर की काव्यात्मक ऊँचाइयों के निर्माण में निश्चित रूप से आधुनिकतावाद की भूमिका मौजूद है।

प्रगतिवादी धारा ने आधुनिकतावाद का विरोध किया था। उनके हिसाब से पश्चिम का यह वैचारिक मॉडल पूँजीवादी धारणाओं से निर्मित था। इसमें जनता और समाज की संगठित राजनीतिक चेतना के प्रति अवहेलना की भावना थी। इसमें शोषण के खिलाफ संगठित होने की किसी भी तरह की अवधारणा काम नहीं कर रही थी। इन सबके बावजूद यह मानना पड़ेगा कि प्रगतिवादी कवियों ने वामपंथ की वैचारिकी के पार जाने की जो कोशिश की उसमें अपने व्यक्तित्व का प्रश्न कुलबुला रहा था। इसके लिए जिन चीजों से समझ बन रही थी उसे आधुनिकतावाद से जोड़ कर देखने पर ज्यादा आपत्ति व्यक्त नहीं की जा सकती है।

सीमाओं, धारणाओं, विचारधाराओं, पद्धतियों को तोड़ने की अंधी आकांक्षा के बावजूद आधुनिकतावाद ने यह प्रेरणा जरूर दी कि व्यक्ति को अपने ढंग से सोचने का अधिकार है। यह अधिकार उस सीमा तक भी है जहाँ अन्य की सहमति प्राप्त होने की संभावना बहुत कम हो जाए! फिराक गोरखपुरी ने सहमति-असहमति के बीच मौलिक विचारों को ज्यादा महत्त्व देते हुए लिखा है,

"दुविधा पैदा कर दे दिलों में ईमानों को दे टकराने
बात वो कह ऐ इश्क कि सुनकर सब कायल हों कोई न माने"

अपने विचारों पर दृढ़ रहने की प्रेरणा तो अनेक स्रोतों से मिलती है, मगर दोनों विश्वयुद्धों के बीच जिस तरह की कशमकश पूरी दुनिया में दिखायी पड़ी उसने संगठित वैचारिकी की तुलना में व्यक्ति के विचारों को ज्यादा भरोसे के साथ देखा! संगठन या समूह की वैचारिकी के दुरुपयोग को दुनिया मर-मर कर झेल चुकी थी। राष्ट्रवाद की नशीली आँधी से आयी तबाही को सब देख रहे थे! व्यक्ति और समूह के बीच के रिश्ते पर विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया कि सशक्त व्यक्तित्व ही समाज को कुछ दे सकता है। संगठित होने के नाम पर भेंड़चाल को पसंद करने की नियति पर पहुँच जाना किसी के लिए सुखद नहीं हो सकता है।

कहा जा सकता है कि नागार्जुन जैसा प्रगतिवादी कवि अपनी अनेक कविताओं में वामपंथी राजनीति से असहमति व्यक्त करने की ताकत अपने मौलिक विचारों से प्राप्त करता है। अगर सीधे पूछा जाए तो नागार्जुन आधुनिकतावाद के विरोधी माने जाएँगे, मगर कहने का आशय यह है कि आधुनिकतावाद को हिन्दी कविता में कई तरह से अपनाया गया। इससे असहमति रखनेवाले कवियों की कविताओं में भी व्यक्ति का अकेला विरोध इसी प्रभाव की तरफ संकेत करता है!

सन्दर्भ :

1. बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2021, पृ. 23

❑❑❑

आलेख

# हिंदी दलित साहित्य : अवधारणा, वैचारिकी एवं लेखन का प्रश्न

❍ रेखा यादव*
❍ प्रो. तेज नारायण ओझा**

हिंदी दलित साहित्य सामाजिक अन्याय, शोषण, भेदभाव और उत्पीड़न के विरुद्ध दलित समुदाय की चेतना, संघर्ष और आत्म-अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। यह साहित्य न केवल दलितों की पीड़ा और अनुभवों को अभिव्यक्त करता है, बल्कि सामाजिक बदलाव, न्याय और समानता की मांग को भी स्वर देता है। इसकी अवधारणा अम्बेडकरवादी सोच पर आधारित है, जो जाति-व्यवस्था के उन्मूलन और मानव गरिमा की पुनर्स्थापना पर केंद्रित है। इसकी वैचारिकी में प्रतिरोध, विद्रोह और सामाजिक क्रांति की चेतना विद्यमान है। यह साहित्य केवल भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि क्रांतिकारी हस्तक्षेप है जो साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बनाता है।

दलित साहित्य एक सशक्त साहित्यिक आंदोलन है, जिसकी शुरुआत 1960-70 के दशक में हुई। यह आंदोलन दलितों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक असमानता के विरुद्ध संघर्ष की अभिव्यक्ति है। दलित लेखकों ने अपनी पीड़ा, अनुभव और विचारों को सरल, सीधी भाषा में साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया। यह साहित्य सामाजिक न्याय, समानता और आत्म-सम्मान की मांग करता है, साथ ही जातिवाद, ब्राह्मणवाद और सामाजिक उत्पीड़न का विरोध करता है। दलित साहित्य आज विभिन्न विधाओं जैसे कविता, कहानी, उपन्यास, आदि रूपों में ऊभर कर आया है। यह साहित्य दलितों के वास्तविक जीवन की पीड़ा और संघर्ष का दस्तावेज़ है।[1] दलित वर्ग अब अपनी भोगी हुई पीड़ा को स्वयं व्यक्त कर रहा है। हाशिए की यह छटपटाहट अब साहित्य के केंद्र में आना चाहती है। उसे अब 'अन्य' की नहीं, बल्कि अपनी ही आवाज में 'प्रथम पुरुष' के रूप में लेखनी चलाने को आवश्यकता है। सदियों से कुरीतियों का शिकार यह वर्ग आज जाति बंधनों को तोड़कर अंधकार से बाहर आने को आतुर है।[2]

भारतीय समाज स्वाधीनता और संवैधानिक अभिव्यक्ति के मूल अधिकार का सूर्य उन्हें आज उस स्थान से हटाने का प्रयास कर रहा है, जो सदैव से उन्हें लील रहा था। इसिलए सारे कथित सौन्दर्य शास्त्रीय मूल्यों को दर किनार करते हुए दलित साहित्य के माध्यम से जाग्रत हो रहा है। ईश्वर और भाग्यवाद पर टिकी सामाजिक-धार्मिक, आर्थिक-असमानता, सामन्तवाद, वर्ण आधारित जातिवाद एवं अन्य कुरीतियों और अंधविश्वास के खिलाफ दलित साहित्य जिस रूप में अपना दस्तक दे रहा है। वह शोषण और अत्याचार की

* *शोधार्थी, हिंदी विभाग, दि,ल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली*
** *शोध निर्देशक, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली*

दर्दनाक कहानी का मार्मिक लेखन है, जिसकी हृदय विदारक अभिव्यक्ति हमें मूलत: दलित साहित्य के रूप में मिलती है। वस्तुत: दलित साहित्य के लेखन का सूत्र-पात ही पुरानी जीर्ण सामाजिक व्यवस्था उसके समूल विनाश का कारण सिद्ध होगा। यह लेखन उन समाज के ठेकेदारों के विरुद्ध एक सामाजिक क्रान्ति का बिगुल भी है जो इस नीच सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखना चाहते है और धार्मिक आधार पर उसका पुरजोर समर्थन करते हैं। सदियों से लिखे जा रहे संस्कृत, हिंदी या अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में भगवान, भाग्यवाद, नायक-नायिका भेद आदि पर तो व्यापक चर्चाएँ हुईं। लेकिन समाज में फैली इन बुराईयों पर किसी का भी ध्यान नहीं गया या और फिर किसी ने भी दलितों की पीड़ाओं पर ध्यान देना ही नहीं चाहा।[3]

### 'दलित' शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

'दलित' शब्द का प्रयोग हिन्दी साहित्य में देखा जाय तो साठ वर्ष पहले से हो रहा है। साहित्य में इस 'दलित' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 'प्रो. शर्मिला रेंगे' द्वारा किया गया। जिसका प्रयोग इन्होंने अस्पृश्य के अर्थ में किया। इसके बाद 'डॉ. वानखेड़े' द्वारा 'पददलित' शब्द का प्रयोग किया गया। वैसे देखा जाय तो इस 'दलित' शब्द को अलग-अलग शब्दकोशों में अलग-अलग अर्थों में दर्शाया गया है। दलित साहित्य की अवधारणा पर विचार करने से पहले हमें 'दलित' शब्द को परिभाषित करना होगा। जिनको जिन्दगी के हर मोड़ पर अमानवीय पीड़ा व दंश को झेलना पड़ता है। आखिर वे दलित कौन हैं और उनकी उत्पत्ति कैसे हुई? इसे जानने के लिए हमें 'दलित' शब्द के शाब्दिक अर्थ को जानना होगा क्योंकि इसे जाने बगैर दलित साहित्य के अस्तित्व को समझना असंभव हैं।[4] इसलिए यदि दलितों के कष्ट व पीड़ा के ताप को महसूस करना है तो हमें उन्हें करीब से जानना होगा जिस पर 'अदम गोडवी' जी ने अपनी कविता "चमारों की गली" में दलितों के कष्टों को दर्शाया हैं। अपनी कविता की पक्तियों के माध्यम से वह कहते हैं कि-

आइए महसूस करिए जिंदगी के ताप को
मैं चमारों की गली तक ले चलूँगा आपकोद्य
जिस गली में भुखमरी की यातना से ऊब कर
मर गई फुलिया बिचारी इक कुएँ में डूब कर
हैं तरसते कितने ही मंगल लँगोटी के लिए
बेचती हैं जिस्म कितनी कृष्णा रोटी के लिए।।[5]

'दलित' शब्द जिसे चमार, शूद्र, चाण्डाल, दास, अनार्य, अछूत, अन्त्यज, अस्पृश्य इत्यादि जैसे शब्दों से सम्बोधित किये जाने वाले नामों का आधुनिक नाम दलित है। 'डॉ. भीमराव अम्बेडकर' ने अपने ग्रंथों में अस्पृश्य के लिए डिप्रेस्ड, अनटचेबल, बहिष्कृत आदि शब्दों को पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है। अत: स्पष्ट है कि अस्पृश्य व्यक्ति ही दलित हैं। डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में "*दलित वर्ग स्वयं में ऐसे लोगों का समूह है, जो मुसलमानों से भिन्न एवं अलग है यद्यपि उन्हें अछूत कहा जाता है। किंतु वे हिंदू जाति के किसी भी अर्थ में अविभाज्य अंग नहीं हैं। वे न केवल उनसे अलग रहते हैं, अपितु उन्हें जो दर्जा प्राप्त है, वह भी भारत में अनेक अन्य जातियों के दर्जे से बिल्कुल भिन्न है। भारत में अनेक अन्य जातियाँ अत्यंत दयनीय एवं गुलामी की स्थिति में रह रही हैं, किंतु दलित वर्गों की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। अंतर केवल इतना है कि कृषि-कर्मियों और नौकरों के साथ अस्पृश्यता का बर्ताब नहीं किया जाता, जबकि दलित वर्ग अस्पृश्यता के अभिशाप का शिकार हैं। उन्हें मानवीय जीवन के लिए आवश्यक नागरिक अधिकारों से भी वंचित रखा जाता है।*"[6]

दलित साहित्यकार बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर को अपना प्रेरणास्रोत मानते हैं। इसलिए दलित शब्द का आशय के संबंध में वे बाबासाहेब के विचारों से सहमत हैं। प्रसिद्ध दलित साहित्यकार 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' कहते

हैं- "*दलित शब्द का अर्थ है, जिसका दलन और दमन हुआ हैं, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनिष्ट, मर्दित, पस्त-हिम्मत, हतोत्साहित तथा वंचित आदि।*"[7] इसी तरह का मत दलित साहित्य के विशिष्ट रचनाकार 'सूरजपाल चौहान' का भी है। वे कहते हैं कि "*दलित केवल गांधीजी के हरिजन और नवबौद्ध नहीं। वे सभी अछूत जातियां, आदिवासी, भूमिहीन खेत मजदूर श्रमिक, कष्टकारी जनता और यायावर जातियाँ सभी की सभी दलित शब्द को आख्यायित करती है।*"[8]

दलित मानव 'दलित' समुदाय का ही एक अंग है, जिसको समुदाय के अन्य लोगों ने दबाया है, सताया व गिराया है और यहाँ तक कि अमानवीय कार्य करने के लिए बाध्य भी किया है। वैसे देखा जाय तो दलित शब्द आधुनिक है, लेकिन दलितपन सदियों से रहा है। इस तरह व्युत्पत्ति के आधार पर इसका सही अर्थ तथा वास्तविक व्याप्ति को जानना आवश्यक हो जाता है। दलित वर्ग सर्वग्राही शब्द बन गया। इसमें अनुसूचित जातियाँ तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लोग शामिल थे। दलित शब्द अब किसी एक जाति के लिए नहीं बल्कि एक वर्ग के लिए प्रयुक्त होने लगा है। इस तरह यह एक व्यापक शब्द बन गया है। आधुनिक शूद्र समाज का बहुत बड़ा हिस्सा दलित संज्ञा में समाविष्ट है। 'दलित' शब्द को परिभाषित करते हुए प्रो. श्योराज सिंह 'बेचैन' व्याख्यायित करते हुए कहते हैं- "*दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है।*"[9] इसी प्रकार कँवल भारती का मानना है कि, "*दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गन्दे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है और इसके अन्तर्गत वही जातियाँ आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।*"[10]

मोहनदास नैमिशराय दलित शब्द को और अधिक विस्तार देते हुए कहते हैं कि, "*दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है। लेकिन इन दोनों शब्दों में पर्याप्त भेद भी है। दलित की व्याप्ति अधिक है, तो सर्वहारा की सीमित। दलित के अन्तर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण का अन्तर्भाव होता है। तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा के अन्तर्गत आ सकता है, लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते। ....अर्थात् सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है, जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है।*"[11]

वास्तव में इस बात में कोई भी संदेह नहीं है कि जिन व्यक्तियों को चाण्डाल, अस्पृश्य व अछूत माना जाता है वही व्यक्ति दलित की श्रेणी में आता है। जिसको समाज में जाति-प्रथा जैसे कोढ़ के कारण कदम-कदम पर उपेक्षित, अपमानित व उत्पीड़ित होने के साथ-साथ प्रताड़ित भी किया जाता रहा है। इस संबंध में रत्नकुमार साँभरिया कहते हैं कि, "*दलित शब्द का शाब्दिक अर्थ है, दबा हुआ। आत्मसम्मान और आत्मविश्वास का जिसमें अभाव हो, मनोबल की कमी हो, अपमान शोषण, उत्पीड़न और प्रताड़ना को जिसने अपनी नियति मान लिया हो।*"[12]

अपने लेख 'दलित साहित्य स्वरूप और प्रयोजन' शीर्षक में शरण कुमार लिम्बाले कहते हैं- "*दलित अर्थात् केवल हरिजन और नवबौद्ध ही नहीं, बल्कि गाँव की सीमा से बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियाँ, आदिवासी, भूमिहीन खेत मजदूर-श्रमिक, दुःखी जनता, भटकों-बहिष्कृत जाति इन सभी का दलित शब्द की व्याख्या में समावेश है।*"[13] इसी लेख में लिम्बाले आगे कहते हैं, "*दलित शब्द की व्याख्या केवल अछूत जाति का उल्लेख करने से नहीं होगी। इसमें आर्थिक तौर पर पिछड़े हुए लोगों का भी समावेश करना चाहिए।*"[14] इसी प्रकार दलित

शब्द की परिभाषा के संबंध में डॉ. सोहनपाल सुमन कहते हैं, "*दलित वह है जिसका दलन किया गया हो। उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित, बाधित और पीड़ित व्यक्ति भी दलित की श्रेणी में आते हैं।*"[15]

## दलित साहित्य की अवधारणा

दलित साहित्य, दलित प्रतिबद्धता की अभिव्यक्ति है। जब 'दलित' शब्द साहित्य से जुड़ता है तब यह एक ऐसी साहित्यिक धारा की और संकेत करता है, जिसमें मानवीय सरोकार एवं संवेदनाओं की यथार्थवादी अभिव्यक्ति बनता है। यह एक ऐसा साहित्य है, जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा और शोषण के विरुद्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति दी है। साहित्यकार कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं होता, वह अपने अस्तित्व के लिए पग-पग पर समाज के ऊपर निर्भर रहता है। समाज से अलग उसका कोई अस्तित्व ही नहीं होता, दलित साहित्य की मूल भावना यही है। इसलिए यह सामाजिक प्रतिबद्धता का साहित्य है। दलित चिंतकों की यह प्रतिबद्धता मानवतावाद और समाजिकता के प्रति न्याय है।

वास्तव में 'दलित' शब्द का अर्थ जाति-बोधक नहीं बल्कि समूह की अभिव्यंजना देता है। सामान्य अर्थो में दलित वह है जो भारतीय समाज व्यवस्था में अस्पृश्य माना गया है। जो कम मूल्य पर श्रम करते श्रमिक, बंधुआ मजदूर, जिसका आर्थिक, शैक्षणिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक शोषण हुआ है। वह दलित की परिधि में आता है। इसीलिए दलित साहित्य का केन्द्र बिंदु मानव है। सुप्रसिद्ध दलित साहित्यकार 'बाबूराम बागूल' का मानना है कि, "*मनुष्य की मुक्ति को स्वीकार करने वाला, मनुष्य को महान बनाने वाला, वंश, वर्ण और जाति श्रेष्ठत्व का प्रबल विरोध करने वाला दलित साहित्य ही हो सकता है। दलित साहित्य का मूल स्वर 'विद्रोह चेतना' का क्रांतिकारी प्रभाव था, जिसमें दलित-विमर्श की शुरुआत होती हैं।*"[16]

इसी प्रकार दलित साहित्य को परिभाषित करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि, "*वर्ण व्यवस्था से उपजी घोर अमानवीयता, स्वतंत्रता-समता-विरोधी सामाजिक अलगाव की पक्षधर सोच को परिवर्तित कर बदलाव की प्रक्रिया को तेज करना दलित साहित्य की मूलभूत संवेदना है। ....अम्बेडकर और जोतिबा फूले की जीवन-दृष्टि दलित साहित्य की ऊर्जा है।*"[17] इसी संबंध में अर्जुन डॉगले कहते हैं, "*दलित शब्द का अर्थ साहित्य के संदर्भ में नया अर्थ देता है। दलित यानी शोषित, पीड़ित समाज, धर्म व अन्य कारणों से जिसका आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक शोषण किया जाता है, वह मनुष्य और वही मनुष्य क्रांति कर सकता है। यह दलित साहित्य का विश्वास है।*"[18]

डॉ. गंगाधर पानतावणे दलित साहित्य को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि, "*दलित साहित्य समाज का दर्पण है, जो हमने देखा और अनुभव किया एवं भोगा जाना समझा उसका अंकन उत्कटता पूर्वक किया। दि्लतत्व का निर्मूलन हमारे साहित्य का हथियार है। इसीलिए सर्वव्यापी क्रांति का आह्वान करता है।*"[19] दलित साहित्य के मराठी लेखक डॉ. शरणकुमार लिंबाले कहते है कि, "*दलितों का दु:ख, परेशानी, गुलामी, अध:पतन और उपहास के साथ ही दरिद्रता का कलात्मक शैली से चित्रण करनेवाला साहित्य ही दलित साहित्य है। आह का उदात्त स्वरूप अर्थात दलित साहित्य। ..हर एक मनुष्य को स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और भयमुक्त सुरक्षा मिलनी चाहिए, इसी पृष्ठभूमि पर निर्मित एक प्रवृत्ति साहित्य में अभिव्यक्त हो रही है। इसी प्रवृत्ति का नाम दलित साहित्य है। दलित साहित्य मनुष्य को केन्द्र मानता है मनुष्य के सुख-दुख से समरस होता है। मनुष्य को महान मानता है। मनुष्य को सम्यक क्रान्ति की ओर ले जाता है।*"[20]

रमणिका गुप्ता का मानना है कि, "*दलित साहित्य कहीं भी और किसी भी रूप में भी मनुष्य पर अत्याचार व शोषण का विरोध करता है। यह साहित्य समाज को मनुष्य के हित में बदलने का पक्षधर का साहित्य है।*

*एक नये मानवीय समाज के निर्माण का पक्षधर है, जिसमें रंग, वर्ण, जाति, लिंग या सामाजिक सत्ता के आधार पर मनुष्यों के बीच भेद-भाव न हो। साहित्य, शोषण पर आधारित व्यवस्था का विरोधी है और सच्ची मानव समता पर आधारित व्यवस्था के निर्माण के प्रति प्रतिबद्ध है।"*[21] राजेन्द्र यादव दलित शब्द को काफी व्यापक दायरे में देखते हैं। "*वे स्त्रियों को भी दलित मानते हैं। पिछड़ी जातियों को भी दलितों में शामिल करते हैं।"*[22] लेकिन प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' कहते हैं कि, "*इससे साहित्य में सही स्थिति सामने नहीं आती। दलित साहित्य उन अछूतों का साहित्य है जिन्हें सामाजिक स्तर पर सम्मान नहीं मिला। सामाजिक स्तर पर जातिभेद के जो लोग शिकार हुए हैं उनकी छटपटाहट ही शब्दबद्ध होकर दलित साहित्य बन रहा है।"*[23] यदि डॉ. अभय कुमार दूबे के अनुसार देखा जाए तो- "*स्वतंत्रता, समता और बन्धुता की मूल चेतना दलित साहित्य की मूल गर्भ-चेतना है। दलित साहित्य की अनुभूति परम्परागत साहित्य से बिल्कुल अलग है, क्योंकि दलित चेतना मुक्ति की बात करती है।"*[24]

## दलित साहित्य की वैचारिकी

दलित साहित्य ने अपने समय और समाज को जिस सच्चाई के साथ चित्रित किया है, किसी और साहित्य और साहित्यकार ने नहीं की। इसलिए वैचारिक दृष्टि से देखा जाय तो यह साहित्य अब तक का सबसे यथार्थवादी साहित्य है। दलितों ने धर्म के नाम पर बर्बर यातनाएँ झेली हैं। अस्पृश्यता के विष को पिया है। इसलिए उन्हें अछूत, अन्त्यज, शूद्र आदि नाम दिये गए। जहाँ तक हम बात करें दलित साहित्य पर दलित रचनाकारों की तो उनका दृष्टिकोण गैर दलित साहित्यकारों से भिन्न होता है। इस संबंध में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि, "*दलितों से सहानुभूति रखने वाले सवर्णों का दृष्टिकोण सिर्फ दया का होता है, जिसके पीछे वे अपराध बोध के स्वर को तीखा नहीं होने देते।"*[25] प्रो. श्योराज सिंह बेचैन का भी इसी तरह का मत हैं कि, "*गैर दलितों द्वारा दलितों पर लिखा गया साहित्य दलित साहित्य नहीं कहा जा सकता दलित साहित्य के मूलभूत आदर्श में वर्णव्यवस्था विरोध है। गैर दलित इस विचार को छूए बगैर सहानुभूतिवश जब लिखते हैं, तो वह एक सुधारवादी दृष्टिकोण होता है जिससे बदलाव की प्रक्रिया में कोई मदद नहीं मिलती। दलित साहित्यकार ने जिस पीड़ा को भोगा है, उसे वह जब मुखर अभिव्यक्ति देता है, तो एक नयी चेतना जन्म लेती है जिसका अभाव हिन्दी साहित्य में स्पष्ट देखा जा सकता है। दलित साहित्य समानता का साहित्य है। जबकि जाति-व्यवस्था का लाभ ले रहे साहित्यकार यथा स्थिति कायम रखना चाहते है।"*[26] दलित साहित्य को वैचारिक दृष्टि से देखा जाय तो अधिकांश दलित साहित्यकारों की मान्यता है कि दलितों का दलितों के लिए दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है। इस संदर्भ में डॉ. कुमुद पाटिल कहते हैं कि, "*दलित साहित्य शोषितों का साहित्य है।"*[27] डॉ. विमल कीर्ति लिखते हैं, "*दलित साहित्य में सामाजिक दर्द है, जातिवाद की पीड़ा है। शोषण तथा उत्पीड़न की पीड़ा है, शोषण तथा उत्पीड़न के कारणों की तलाश भी है। इसमें आत्मवाद, ईश्वरवाद, द्वैतवाद के विरुद्ध विद्रोह की प्रेरणा है, इसलिए दलित साहित्य वक्त का साहित्य है।"*[28]

दलित साहित्यकार तथागत गौतम बुद्ध, महात्मा जोतिबा फुले और बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर, को अपना प्रेरणास्रोत मानते हैं। दलित साहित्य की बैचारिकी के संबंध में प्रसिद्ध लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि का मत है कि, "*दलित साहित्य का वैचारिक आधार डॉ. अम्बेडकर का जीवन संघर्ष एवं जोतिबा फुले और बुद्ध का दर्शन उसकी दार्शनिकता का आधार है सभी दलित रचनाकार इस बिन्दु पर एकमत हैं कि जोतिबा फुले ने स्वयं क्रियाशील रहकर सामन्ती मूल्यों और सामाजिक गुलामी के विरोध का स्वर तेज किया था। अपनी ब्राह्मणवादी सोच और वर्चस्व या प्रभुत्व के विरोध में उन्होंने आन्दोलन खड़ा किया था। आज यही कारण है कि जहाँ दलित रचनाकारों ने जोतिबा फुले को अपना विशिष्ट विचारक माना वहीं डॉ. अम्बेडकर को अपना*

*शक्तिपुंज के रूप में स्वीकार किया है। ऐसा शक्तिपुंज जिससे समूचा दलित लेखन वैचारिक ऊर्जा ग्रहण करता है। डॉ. अम्बेडकर और जोतिबा फुले के विचारों की प्रखर शक्ति पाकर आज दलित साहित्य आन्दोलन प्रगति की ओर बढ़ रहा है। जहाँ दलित साहित्य को डॉ. अम्बेडकर के जीवन दर्शन से वैचारिक ऊर्जा मिला है वही तथागत बुद्ध की दार्शनिकता ने उसे सामाजिक दृष्टि दी है। साथ ही जोतिबा फुले के जीवन-संघर्ष से उसे गहन प्रेरणा मिली है।"*[29]

दलित साहित्यकारों व विद्वानों एंव विचारों के आधार पर देख सकते हैं कि दलितों की एक ही पीड़ा नहीं है और न ही यह समस्या एक दिन की है, यह वेदना तो हजारों वर्षों की है। इसलिए व्यक्त होते समय समूह में व्यक्त होती है इसलिए साहित्य की वेदना में किसी एक व्यक्ति की वेदना नहीं है बल्कि वह पूरे बहिष्कृत समाज की वेदना है। इसलिए इस वेदना का स्वरूप सामाजिक है। 'दलित साहित्य में नकार और विद्रोह दलितों की वेदना से पैदा हुआ है। यह नकार और विद्रोह अपने ऊपर थोपी गई वर्ण आधारित जातिगत अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध है। दलित साहित्य में जैसे वेदना सामूहिक रूप से व्यक्त होती है वैसे ही नकार और विद्रोह भी सामाजिक एवं सामूहिक है। विषम व्यवस्था को नकारते हुए समता और स्वतंत्रता न्याय और बंधुत्व की मांग करता है। मैं मनुष्य हूँ, मुझे मनुष्य का सभी हक मिलना चाहिए, इस ज्ञान से यह विद्रोह पैदा हुआ है। दलितों की पीड़ा के संदर्भ में हिंदी के वरिष्ठ आलोचक प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने ठीक ही कहा हैं कि, "*गुलामी की यातना जो सहता है, वही जानता है और जो जानता है यही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव कोई और नहीं।"*[30]

वास्तव में दलित साहित्य का अनुभव अब तक साहित्य में न व्यक्त हुआ अनुभव है। यह जाति विशेष का अनुभव है, इसलिए यह एक व्यक्ति का होते हुए भी पूरी जाति को प्रतिनिधित्व देता है, उसकी पीड़ा और आक्रोश को प्रतिबिम्बित करता है तथा जिन जातियों ने हजारों वर्षों से शोषण अत्याचार और अन्याय को सहा है या सहती रही है, उसके बादजूद भी उनके मुँह से चीख तक नहीं निकली। वही जातियाँ आज अपनी चीख, छटपटाहट और आक्रोश को आवाज देने लगी हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आज उनकी उस दर्द भरी आवाज को सुना भी जा रहा है। कुल मिलाकर देखा जाय तो दलित साहित्य भविष्य का साहित्य है। इसके संदर्भ में प्रसिद्ध साहित्यकार राजेन्द्र यादव का भी कुछ ऐसा ही विचार है कि, "*अगली सदी दलित रचनाकारों की होगी, सच मालूम पड़ता है।"*[31] वे आगे पुनः कहते हैं कि, "*अब समय दलित साहित्य का है। कितने दिनों तक दलित साहित्य को ओढ़ते-बिछाते रहोगे, यह कैसी विडम्बना है कि जब तक दलित समाज हमारी सहानुभूति और हमदर्दी के दायरे में होता है तब तक हमारी दृष्टि में वह ठीक कहा जाता है, लेकिन ज्यों ही वे अपने अधिकारों की माँग करते हैं, हमारे लिए घृणा और हिंसा का विषय बन जाते हैं। आज भी हमारा समाज अंतर्विरोधों एवं प्रवृत्तियों की चपेट में है।"*[32]

### दलित साहित्य लेखन का प्रश्न

दलित साहित्य का अर्थ परिभाषा, अवधारणा एवं वैचारिकी के पश्चात् इसकी 'रचनाधर्मिता'[33] से संबंधित एक और प्रश्न उठता है कि दलित साहित्य कौन लिख सकता है? क्या दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही 'दलित साहित्य' है या दलित विषय पर गैर-दलितों की रचनाएँ भी इस श्रेणी में आएँगी? इस प्रश्न ने एक खासा विवाद पैदा कर दिया है। एक तरफ भोक्ता की पीड़ा और अनुभूति की प्रामाणिकता है, तो दूसरी ओर स्थिति के प्रति करुणा और सहानुभूतिपरक दृष्टि।[34] इस सम्बन्ध में दलित चिन्तक कंवल भारती का मत हैं कि, "*दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन-संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है।*

यह कला के लिए कला नहीं, बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है। इसीलिए कहना न होगा कि वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटी में आता है।"[35] इसी मत का समर्थन करते हुए डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर कहते हैं कि, "*दलित साहित्य स्व-अनुभूति का साहित्य है, जबकि गैर दलित साहित्यकारों द्वारा लिखा गया साहित्य सहानुभूति का साहित्य है। हिंदी में एक कहावत है- जाके पाँव ना फटी बिवाई, वो क्या जाने पीर पराई। इसलिए गैर दलित साहित्यकारों द्वारा लिखा गया साहित्य दलित साहित्य नहीं हो सकता।*"[36] इस संबंध में डॉ. धर्मवीर कहते हैं, "*दलित साहित्य वह है जिसे दलित लेखक लिखता है। दलित साहित्य की परिभाषा पीड़ा से लेकर मुस्कान तक है। इसमें रोने की बजाय मुस्कान की खोज के द्वारा समग्रता और पूर्णता की ओर मनुष्य का प्रयाण है। यह कमजोरी नहीं बल्कि शक्ति है। यह गुलामी नहीं बल्कि समाधान है।*"[37] दलित साहित्य के लेखन के संबंध में प्रसिद्ध लेखक मोहनदास नैमिशराय कहते हैं कि, "*दलित साहित्य यानी बहुजन समाज में सभी मानवीय अधिकारी एवं मूल्यों की प्राप्ति के उद्देश्य से लिखा गया साहित्य है।*"[38]

'दलित साहित्य कौन लिख सकता है?' के संबंध में सुप्रसिद्ध दलित साहित्यकार डॉ. जयप्रकाश कर्दम का मत है कि, "*दलित साहित्य वर्णव्यवस्था व जातिवाद के खिलाफ शोषण व असमानता के खिलाफ परम्परागत रूढ़ियों व आडम्बरों के खिलाफ तथा उन सभी मान्यताओं के खिलाफ एक मुहिम है जो समाज की प्रगति में बाधक है, जो सामाजिक जीवन को विषाक्त बनाती है तथा जो शोषण व असमानता की पोषक है।*"[39] इसी प्रकार ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि, "*दलित धूल में रहता है, बरसात और ठंड को सहन करता है, हमारे लिए ठंडी छाया की कल्पना करना असंभव है। हमारा जीवन उबड़-खाबड़ है, खुरदरा है। हमारे जीवन में बहुत कुछ घटित हो रहा है। हमारी प्राथमिकताएँ क्या है? दूसरा लिख नहीं सकता।*"[40]

दूसरी ओर कुछ विचारकों का मत है कि गैर दलित लेखकों द्वारा लिखी गयी रचनाओं को भी दलित साहित्य में शामिल करना चाहिए। प्रसिद्ध दलित साहित्यकार 'माताप्रसाद' दलित लेखकों से भिन्न राय रखते हुए कहते हैं कि, "*दलित साहित्य केवल दलितों का लेखन नहीं है, बल्कि जिन्होंने भी उसकी पीड़ा का अनुभव करके उन पर साहित्य सृजन किया है, वह सृजन दलित साहित्य की श्रेणी में आता है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य में प्रेमचंद को इस श्रेणी में प्रथम स्थान पर रखा जा सकता है। दूसरे भी कई गैर दलित साहित्यकार हैं, जिन्होंने उच्च कोटि के दलित साहित्य लिखे हैं।*"[41] इसी संबंध में राजकुमार सैनी का कहना है कि, "*मेरा अभिमत है कि दलित चेतना का साहित्य लिखने के लिए दलित होना जरूरी नहीं है। साहित्य का सम्बन्ध संवेदना से है। दलित जाति का व्यक्ति भी व्यवस्था में बिकाऊ माल की तरह संवेदन शून्य हो सकता है। दूसरी ओर निराला जैसे महाकवि भी हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी कविता में पहली बार 'दलित' शब्द का प्रयोग किया।*"[42] डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी का लगभग यही मत है कि, "*समता की दिशा में दलित साहित्य की सोच महत्वपूर्ण है। डॉ. आंबेडकर समाज के स्तर पर समता को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं या प्रतिष्ठित करने का स्वप्न देखते हैं संकल्प लेते हैं। वास्तव में जो शोषित हैं, वे सब दलित हैं और इनका जो साहित्य है वह दलित साहित्य है।*"[43] इस संबंध मृदुला गर्ग की मान्यता है कि, "*गैर-दलित लेखक भले ही दलित पात्रों के बारे में सशक्त, प्रभावशाली और कलात्मक रचनाएँ दें, वे दलित लेखकों की कृतियों से कहीं न कहीं भिन्न होंगी। भाषा, शिल्प, रूपक और मुहावरों के प्रयोग में और कथ्य के निर्वाह में भी।*"[44]

इस प्रकार लेखक और विचारकों में दलित साहित्य की रचनात्मक अवधारणा को लेकर दोनों ही तरह के विचार प्रचलित हैं। अर्थात् कुछ लोग जन्मना दलित लेखन को ही दलित साहित्य मानते हैं, तो कुछ लोगों के विचार में दलित केन्द्रित अन्य लेखन भी दलित साहित्य है, भले ही वह गैर-दलितों द्वारा लिखे गये हों।[45] इसी

संबंध में प्रसिद्ध लेखक 'अजय नावरिया' सवाल उठाते हैं कि, "*यदि एक जन्मना दलित ब्राह्मणवादी सोच और विचारधारा के अनुरूप लेखन करता है और कोई गैर-दलित ब्राह्मणवादी संस्कार और वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध लिखता है, तो दलित साहित्यकार किसे माना जाना चाहिए? किसके साहित्य को 'दलित साहित्य' की परिधि में शुमार होना चाहिए?*"[46] अनुभूति की प्रामाणिकता के बारे में 'भीष्म साहनी' लिखते हैं कि, "*मेरी नजर में उसी रचना में खरापन होगा, जिसके सृजन में लेखक का समूचा सर्जनात्मक व्यक्तित्व यानी उसका संवेदन, उसकी कल्पना, उसका चिन्तन और उसकी दृष्टि सक्रिय होते हैं। पर जहाँ तक लेखक के सृजन का सवाल है, किसी सीमा तक ही इन अपेक्षाओं की उपयोगिता रहती है। क्योंकि मूलत: लेखक का संवेदन ही उसे रास्ता सुझाता है। लेखक का सर्जनात्मक व्यक्तित्व इन अपेक्षाओं से नहीं बनता, वह उसके अपने संस्कारों, अनुभवों, चिन्तन, पठन-पाठन और उसकी सूझ बनता है। हाँ, जिस माहौल में वह जीता और साँस लेता है, उस माहौल के प्रति वह निश्चय ही उत्तरोत्तर सचेत होता जाता है। वस्तुत: दलित साहित्य का वैचारिक प्रस्थान अम्बेदकर दर्शन है और इस दर्शन पर खरे साहित्य को ही 'दलित साहित्य' होना चाहिए। चाहे वह स्वानुभूति का हो या सहानुभूति का।*"[47]

हरिनारायण ठाकुर के अनुसार, 'अधिकांश दलित लेखक और चिंतक मानते हैं कि दलित समस्या पर केवल दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही वास्तविक दलित साहित्य है। वे सवर्ण लेखकों की ईमानदार रचनाओं में भी सवर्णता और दलित विरोधी दृष्टिकोण पहचान लेते हैं। प्रेमचंद की रचनाएँ इसकी प्रमुख उदाहरण रही हैं। उनका तर्क है कि दलित होने का दर्द, अपमान और विद्रोह की तीव्रता केवल वही अनुभव कर सकता है जिसने उसे जिया हो। गैर-दलितों में सहानुभूति हो सकती है, पर पीड़ा की सच्ची अनुभूति नहीं। इसलिए वे 'दलित चेतना' का दावा केवल दलित दृष्टि और अनुभव में ही स्वीकारते हैं।'[48] इस मान्यता के समर्थकों में राजेन्द्र यादव, मैनेजर पांडे, देवेन्द्र चौबे, विश्वनाथ त्रिपाठी, रमणिका गुप्ता आदि गैर-दलित लेखक और विचारक तथा मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, कंवल भारती, डॉ. धर्मवीर, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह 'बेचैन' आदि दलित लेखक हैं। इसके विपरीत रजनी तिलक, राजकुमार सैनी और तुलसी राम जैसे अनेक दलित लेखक भी गैर-दलितों के दलित विषयक लेखन को 'दलित साहित्य' मानते हैं।[49] हरिनारायण ठाकुर के शब्दों में, "*वास्तव में दलित साहित्य की अवधारणा को लेकर सारी लड़ाई पाठ, पाठ की विषयवस्तु, पाठ के स्वरूप और उसमें आये विचार तथा समाज-दर्शन को लेकर है। दलित लेखक बार-बार व्यापक भारतीय समाज के सामने यह चिन्ता जाहिर करते हैं कि अब तक का इतिहास दलित समाज की उपेक्षा, शोषण, दमन और तिरस्कार का इतिहास रहा है। फिर कैसे और कितना एक दलित गैर-दलित समाज और उसकी चिन्ता पर भरोसा करे?*"[50]

इस विषय पर प्रकाश डालते हुए हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध साहित्यकार 'प्रो. मैनेजनर पाण्डे' कहते हैं कि, "*हिन्दी में दलितों के जीवन पर उपन्यास और कविता लिखने वाले गैर-दलित ने अपने वर्ग और वर्ण-संस्कारों से मुक्त होकर ही दलित जीवन पर लिखा है। फिर भी, उनके लेखन में अनजाने में ही सही, सवर्ण-संस्कारों की छाया आ गयी है।*"[51] उदाहरण के लिए, "*नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' में आये 'मनुपुत्र', 'वेद' और 'ऋचाएँ' शब्द दलित चेतना के अनुकूल नहीं हैं। कवि हरिजन और उसे जलाने वाले सवर्ण-दोनों को 'मनुपुत्र' कहता है। कवि कहता है कि क्रान्ति के बाद दलित नयी वेद ऋचाओं का गायक होगा। जाहिर है दलितों को 'मनुपुत्र' कहलाना पसन्द नहीं और उन्हें 'हरिजन', 'वेद्' और 'ऋचा' जैसे शब्दों से शख्त नफरत है। इसी प्रकार 'नाच्यो बहुत गोपाल' में अमृतलाल नागर मेहतरानी से संस्कृत का श्लोक पढ़वाते हैं। धूमिल की कविता 'मोचीराम' में वर्ग-चेतना है, वर्ण-चेतना नहीं। जगदीश चन्द्र के उपन्यास 'धरती धन न अपना', गिरिराज किशोर के 'परिशिष्ट', मनमोहन पाठक के 'गगन घटा घहरानी', पुन्नी सिंह के 'पाथर घाटी के शोर', मन्नू भंडारी के*

*'महाभोज', आदि उपन्यासों को दलित विचारक दलित साहित्य की रचना नहीं मानते। नामवर सिंह ने दूधनाथ सिंह की कहानी 'धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे' को दलित कहानी घोषित की थी। किन्तु ओमप्रकाश वाल्मीकि इसे दलित चेतना की नहीं, जनवादी वर्ग-चेतना की रचना मानते हैं।"*[52]

इतना ही नहीं, दलित साहित्यकार प्रेमचन्द की 'दलित दृष्टि' पर भी सवाल उठाते हैं। जबकि हम जानते हैं कि प्रेमचन्द डॉ. अम्बेदकर के 'महाड़ आन्दोलन' (1927 ई.) और 'मन्दिर प्रवेश आन्दोलन' (1930 ई.) से प्रभावित थे और उनकी कहानियाँ 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआँ', 'दूध का दाम', 'आहुति' और 'मन्त्र' आदि पर इन आन्दोलनों का जबर्दस्त प्रभाव है। 'कफन', सहित प्रेमचन्द की ये सारी रचनाएँ दलित चेतना से सम्पन्न हैं। भले ही इन पर सवर्ण संस्कारों की थोड़ी झलक दिखाई पड़ती हो । किन्तु जान बूझकर दलितों को अपमानित करने जैसी कोई बात दिखाई नहीं पड़ती। इसलिए श्रीभगवान सिंह कहते हैं कि "*दलित लेखन बहुत सारी सम्भावनाओं को प्रकट तो करता है, किन्तु वह जिस तरह से तमाम पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्पराओं, सौन्दर्यबोध एवं प्रतिमानों से कट कर अपने स्वतन्त्र प्रतिमानों को मढ़ने का पृथकतावादी अभियान चला रहा है, वह जरूर मेरे जैसे गैर-दलित लेखकों को उनसे कुछ निवेदन करने के लिए बाध्य करता है।"*[53]

इसी संबंध में आगे पुनः श्री भगवान सिंह कहते हैं, "*जब हिन्दी आलोचना में वर्ग-संघर्ष एवं वर्ग-चेतना की चर्चा मार्क्सवादी प्रभाव के कारण जोरो पर थी, तब भी दलित चेतना उसके केन्द्र में थी। उस दौर में डॉ. रामविलास शर्मा 'परम्परा का मूल्यांकन', डॉ. नामवर सिंह 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' जैसे मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा लिखी गई समीक्षाओं में यह बात देखी जा सकती है, जब उन्होंने वाल्मीकि, व्यास, तुलसी, प्रेमचन्द, निराला आदि के साहित्य के महत्त्व को पीड़ित, दलित और सताये का पक्ष लेने में उजागर किया था, लेकिन आज की तारीख में 'दलित-विमर्श' ने ऐसा मोड़ ले लिया है कि अब तुलसी, प्रेमचन्द, निराला आदि को दलित का पक्षधर नहीं माना जा रहा, क्योंकि वे जन्मना 'दलित' नहीं थे। विचित्र बात है। एक तरफ दलित लेखक यह सिद्ध करते हैं कि 'व्यास जाति के मल्लाह थे', 'वाल्मीकि बहेलिया थे', 'कालिदास गड़ेरिया थे', तो दूसरी तरफ इन्हीं रचनाकारों के साहित्य को सवर्ण एवं सामन्ती मूल्यों का पोषक कहकर खारिज भी किया जा रहा है। दलित लेखकों द्वारा यह दलित चिन्तन का अन्तर्विरोध नहीं तो क्या है?"*[54] इसका उत्तर देते हुए 'कंवल भारती' कहते हैं कि-

> *प्रेमचन्द को तुलसी और निराला से जोड़कर रामविलास शर्मा और नामवर सिंह ने साहित्यिक भ्रष्टाचार किया है। श्रीभगवान सिंह इस भ्रष्टाचार पर मुग्ध हो सकते हैं, पर दलित लेखकों की दृष्टि में यह घोरतम अपराध है। प्रेमचन्द अकेले लेखक थे, जो डॉ. अम्बेदकर के दलित आन्दोलन से प्रभावित हुए थे। दलित सवालों को लेकर उन्होंने जितनी भी कहानियाँ लिखी हैं, उन पर (खास तौर से 'ठाकुर का कुआँ', 'सद्गति', और 'मन्दिर', आदि पर) डॉ. अम्बेदकर का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। पर तुलसी और निराला में कौन-सी दलित चेतना है? ब्राह्मणवाद के प्रतिष्ठापक, रक्षक और पोषक तुलसीदास को दलित-चिन्तन कभी का खारिज कर चुका है। 'पूजीय विप्र शील गुन हीना, नाहि शूद्र गुन ज्ञान प्रवीना' का उद्घोष करने वाले तुलसी को दलित-हितैषी बताना मार्क्सवाद का गलत पाठ पढ़ाना है। इन्हीं तुलसीदास के परम भक्त थे निराला, जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था का खुला समर्थन किया था। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' में समानतावादी मूल्यों के पोषण के सिवा मार्क्सवादी आलोचकों को कौन-सी प्रगतिशीलता दिखाई देती है?...'चतुरी चमार' का गलत पाठ मत कीजिए। उसमें कोई वर्ण-व्यवस्था नहीं टूटती है, उसमें चतुरी चमार का कोई कायाकल्प नहीं हो गया है। वह अधिक से अधिक संघ परिवार के 'सामाजिक समरसता' की कहानी है, जिसमें कोई वर्ग संघर्ष नहीं है।*[55]

हरिनारायण ठाकुर के अनुसार, 'कंवल भारती जैसे दलित विचारकों का तर्क महत्वपूर्ण है, लेकिन प्रेमचन्द और निराला की परिस्थितियों को भी समझना आवश्यक है। वे जन्मना सवर्ण थे और ब्राह्मणवादी संस्कारों में पले-बढ़े, जो उस समय के समाज की सामान्य स्थिति थी। फिर भी अपने जीवन के उत्तरार्ध में जब मार्क्सवादी चेतना जागृत हुई, उन्होंने जाति और वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया। प्रेमचन्द की 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआँ' और 'गोदान' जैसी रचनाओं में दलित चेतना स्पष्ट दिखती है। इस लेखन के कारण उन्हें अपने समाज और ब्राह्मणों के कोप का सामना करना पड़ा। निराला को तो जाति से बहिष्कृत कर दिया गया था। उस समय दलित समाज में प्रतिरोध की स्पष्ट चेतना नहीं थी, और सवर्णों में अपने समाज से विद्रोह का साहस भी दुर्लभ था। ऐसे में प्रेमचन्द और निराला द्वारा दलित समस्याओं पर लेखन एक साहसी और ऐतिहासिक कदम था, जिसे नकारा नहीं जा सकता।[56]

आगे पुनः हरिनारायण ठाकुर कहते है कि, "*आज के सन्दर्भ में प्रेमचन्द और निराला की दलित रचना को भले ही खारिज कर दिया जाये, प्रेमचन्द के समय और समाज के लिए ये बिल्कुल यथार्थ परक और प्रासंगिक है। यदि अम्बेडकर दर्शन की 22 संहिताओं के आधार पर लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है, तो इस कसौटी पर अनेक दलित साहित्यकारों की रचानाएँ भी खारिज हो जायेंगी। सच तो यह है कि गैर-दलित रचनाकार 'आत्मकथा' को छोड़कर सभी साहित्यिक विधाओं में दलित साहित्य की रचना कर सकते हैं। किन्तु गैर दलितों द्वारा लिखे गए दलित साहित्य को सहानुभूति का साहित्य की कहा जा सकता है, स्वानुभूति का नहीं।*"[57] इस संबंध में रमणिका गुप्ता स्पष्ट कहती हैं कि, "*गैर-दलित भी संवेदना और सहानुभूति से दलितों के लिए साहित्य लिखें, तो कौन मना करता है उन्हें? पर यह उनका अनुभव-जन्य साहित्य प्रामाणिक दलित साहित्य नहीं माना जा सकता। इसे उनके महसूस करने की, उनके अहसासों की अभिव्यक्ति माना जा सकता है, सहानुभूति का साहित्य कहा जा सकता है।*"[58]

आगे पुनः हरिनारायण ठाकुर कहते हैं कि, "*मौजूदा दौर में दलित चेतना दूसरों की दया और सहानुभूति को पसन्द नहीं करती। इसका कारण भी स्पष्ट है। यदि गैर-दलितों को दलित समस्या पर दया और सहानुभूति ही दिखानी थी, तो इतने दिनों तक यह दया और सहानुभूति कहाँ थी? प्रेमचन्द के दलित विषयक साहित्य को दलित साहित्य मान भी लिया जाये, तो उसके बाद की पूरी वामपन्थी- दक्षिणपन्थियों को जाति और वर्ण की समस्या क्यों नहीं दिखायी पड़ी? सीधी-सी बात है कि गैर-दलितों को दलित समस्या में कोई दिलचस्पी नहीं रही है। वे दलितों की बातें तभी करेंगे, जब उन्हें उसमें कहीं अपना हित भी दिखायी पड़े। सच तो यह है कि आज जब दलितों ने अपनी समस्या को खुद ही उठाया है, अपना साहित्य खुद ही लिखना शुरू किया है, तो उन्हें भी दया और सहानुभूति याद आयी है। इस दृष्टि से दलित साहित्य केवल दलितों का ही साहित्य है। वही इस पर ईमानदारी से विचार कर सकता है, क्योंकि वह उसका भोक्ता है।*"[59]

फिर भी 'दलित साहित्य' को केवल दलितों की सीमा में बाँधना उचित नहीं है। साहित्य साहित्य होता है, जिसके सृजन का अधिकार सबको है। हाँ, निष्ठा, संवेदना और प्रतिबद्धता आवश्यक है। केवल ऊपरी सहानुभूति से चेतना की धारा में शामिल नहीं हुआ जा सकता। गैर-दलित लेखन में यदि दलितों के प्रति सच्ची सहानुभूति, संवेदना और उनकी मुक्ति की चिन्ता और चेतना है, तो ऐसे साहित्य को 'दलित साहित्य' मानने में कोई हर्ज नहीं है। दलित रचनाओं में दलित जीवन की समस्या और सरोकार अवश्य होने चाहिए। कोई रचनाकार 'डि-कास्ट' होकर जाति और वर्ग से ऊपर उठकर जब जाति और वर्ण विषयक साहित्य लिखेगा तभी वह दलित साहित्य होगा अन्यथा नहीं।[60]

**निष्कर्ष**

हिंदी दलित साहित्य भारतीय साहित्य की वह धार है, जिसने सामाजिक अन्याय, जातिगत शोषण और

हाशिए पर पड़े जीवन की वेदनाओं को स्वर दिया है। यह साहित्य केवल संवेदना का प्रदर्शन नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतिरोध, आत्मसम्मान और मुक्ति की चेतना का सशक्त माध्यम है। इसकी अवधारणा मुख्यत: 'दलित' शब्द की सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से जुड़ी हुई है, जिसका तात्पर्य है कि वह वर्ग जो सदियों से सामाजिक उत्पीड़न और अपमान का शिकार रहा है। हिंदी दलित साहित्य ने इस पीड़ित वर्ग की व्यथा, संघर्ष और बदलाव की आकांक्षा को केंद्र में रखते हुए अपनी दिशा और दृष्टि निर्मित की है। दलित साहित्य की वैचारिकी डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों से अत्यंत प्रेरित रही है। अंबेडकर ने जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष और सामाजिक समानता की स्थापना का जो मार्ग प्रशस्त किया, वही दलित लेखन का बौद्धिक आधार बन गया। उन्होंने शिक्षा, आत्म-सम्मान और संगठन के माध्यम से दलितों को संगठित करने का जो संदेश दिया, वही साहित्य में भी मुखर होकर सामने आता है। हिंदी दलित साहित्य की वैचारिकी में जाति उन्मूलन, बराबरी का समाज, आत्माभिव्यक्ति और ऐतिहासिक शोषण का विश्लेषण प्रमुख रूप से उभरता है। यह साहित्य शोषित वर्ग को नायक के रूप में स्थापित करता है, न कि करुणा का पात्र मात्र।

हिंदी दलित साहित्य ने लेखन के स्तर पर आत्मकथात्मक, कथा, उपन्यास, कविता, नाटक और आलोचना जैसी विधाओं में अपनी मजबूत उपस्थिति दर्ज की है। ओमप्रकाश वाल्मीकि, शरणकुमार लिंबाले, जय प्रकाश कर्दम, मोहनदास नैमिशराय, सूरजपाल चौहान, श्योराज सिंह 'बेचैन', अजय नावरिया, उमेश कुमार सिंह, कँवल भारती, विमल थोरात, कौशल्या बैसंत्री, सुशीला टाकभौरे, रजनी तिलक, रजत रानी 'मीनू' और कावेरी जैसे लेखकों ने अपने जीवनानुभवों के आधार पर दलित साहित्य को समृद्ध किया है। विशेष रूप से दलित महिला लेखिकाओं ने जाति और लिंग आधारित दोहरे शोषण की सच्चाइयों को उजागर कर इसे और अधिक प्रभावशाली बनाया है। आज के सामाजिक संदर्भ में, जब जातिगत भेदभाव के नए रूप सामने आ रहे हैं, हिंदी दलित साहित्य की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है। यह साहित्य दलितों की पीड़ा, आत्मसम्मान, संघर्ष और सामाजिक बदलाव की आकांक्षाओं को स्वर देता है। यह केवल साहित्य नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय की लड़ाई का औजार है जो समतामूलक और मानवतावादी समाज की स्थापना की दिशा में एक क्रांतिकारी सांस्कृतिक हस्तक्षेप बनकर उभरता है।

हिंदी दलित साहित्य के लेखन का प्रश्न केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि यह लेखन की स्वायत्तता, अभिजन साहित्य की सीमाओं, और दलित चेतना की आत्मस्वीकृति से भी जुड़ा हुआ है। दलित लेखन ने साहित्य की परंपरागत कसौटियों को चुनौती दी है और यह मांग की है कि साहित्य को सामाजिक न्याय और परिवर्तन के उपकरण के रूप में देखा जाए। इस लेखन में भाषा, शिल्प और संवेदना का एक अलग ही स्वरूप दिखाई पड़ता है, जिसमें विद्रोह भी है, प्रश्न भी हैं और नव निर्माण की चेतना भी। अंतत: हिंदी दलित साहित्य ने साहित्यिक जगत में एक नई चेतना, नई दृष्टि और एक वैकल्पिक सामाजिक विमर्श को जन्म दिया है। यह न केवल बहिष्कृत वर्ग की आवाज बना है, अपितु सामाजिक परिवर्तन का औजार भी साबित हुआ है। दलित साहित्य हमें यह सोचने पर विवश करता है कि साहित्य का उद्देश्य केवल सौंदर्य नहीं, बल्कि न्याय, समानता और स्वतंत्रता की स्थापना भी है। यही इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

**संदर्भ :**

1. यादव, रेखा, दलित साहित्य और मणिकर्णिका, नेशनल बुक सेंटर, दिल्ली, 2018, पृ. 32
2. रानी, रजत 'मीनू' हिंदी दलित कथा साहित्य : अवधारणाएं और विधाएँ, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीबूटेर्स, प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली, 2014, पृ. 23
3. यादव, रेखा, दलित साहित्य और मणिकर्णिका, पृ. 33
4. लता, कुसुम, हिन्दी दलित साहित्य में स्त्री-चेतना, शोध प्रबंध, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 2013,

पृ. 3
5. गौंडवी, अदम, "मैं चमारों की गली में ले चलूँगा आपको", http://kavitakosh.org/kk/
6. अम्बेडकर, बाबा साहेब डॉ. भीमराव, सम्पूर्ण वाङ्मय (खण्ड 5), डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, 2000, पृ. 15.
7. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ. 13
8. लता, कुसुम, हिन्दी दलित साहित्य में स्त्री-चेतना, शोध-प्रबंध, महात्मा गाँधी, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 2013, पृ. 4
9. बैचेन, श्यौराज सिंह, युद्धरत आम आदमी, अंक-41-42,1998, पृ. 14
10. भारती, कँवल, युद्धरत आम आदमी, अंक-41-42, 1998, पृ. 41
11. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 51
12. सांभरिया, रत्नकुमार, लोक शासन, समाचार पत्र, 2 जून, 1993,जयपुर; लता, कुसुम, 'हिन्दी दलित साहित्य में स्त्री-चेतना', शोध-प्रबंध, महात्मा गाँधी, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 2013, पृ. 12
13. लिम्बाले, शरण कुमार, "दलित साहित्य स्वरूप और प्रयोजन", हंस पत्रिका, जनवरी, 1997, पृ. 53
14. वही।
15. लता, कुसुम, हिन्दी दलित साहित्य में स्त्री-चेतना, शोध-प्रबंध, महात्मा गाँधी, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 2013, पृ. सं. 16
16. मैंगी, बोस्की, साहित्य में दलित चेतना: एक चिंतन, 'अपनी माटी', वर्ष-2, अंक-14, अप्रैल-जून, 2014 http://www.apnimaati.com/2014/05/blog-post-5526.html.
17. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 58;
18. लता, कुसुम, हिन्दी दलित साहित्य में स्त्री-चेतना, शोध प्रबंध, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ वाराणसी, 2013, पृ. सं. 20;
19. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 16
20. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 15-16
21. मैंगी, बोस्की, साहित्य में दलित चेतना: एक चिंतन, गायकवाड, डॉ. सुचिता, दलित उपन्यासों में व्यक्त स्त्री चरित्र, शुभम पब्लिकेशन, कानपुर, 2017, पृ. सं. 23
22. मैंगी, बोस्की, साहित्य में दलित चेतना: एक चिंतन, वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 5
23. 'बैचेन', श्यौराज सिंह, एक अलग रास्ता हैं-दलित कथा का, आगुंतर, जुलाई-अगस्त, सितम्बर, 1997, पृ. 70; वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 15
24. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 58
25. लता, कुसुम, हिन्दी दलित साहित्य में स्त्री-चेतना, शोध-प्रबंध, महात्मा गाँधी, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 2013, पृ. 23
26. हंस पत्रिका, जुलाई, 1996, पृ. 75
27. सत्यप्रेमी, पुरुषोत्तम, दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, समता प्रकाशन, नागपुर,1997, पृ. 86
28. लता, कुसुम, हिन्दी दलित साहित्य में स्त्री-चेतना, पृ. सं. 23; सत्यप्रेमी, पुरुषोत्तम, दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, पृ. 87
29. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 53-57
30. पाण्डेय, प्रो. मैनेजर, दलित चेतना कविता, विशेषांक-31, युद्वरत आम आदमी, जुलाई-सितम्बर, 1955, पृ. 37
31. लता, कुसुम, हिन्दी दलित साहित्य में स्त्री-चेतना, पृ. 26
32. गायकवाड, डॉ. सुचिता, दलित उपन्यासों में व्यक्त स्त्री चरित्र, शुभम पब्लिकेशन, कानपुर, 2017, पृ. 25

33. 'रचनाधर्मिता' शब्द का अर्थ है कि सृजन की प्रवृत्ति या सृजनशीलता। यह एक ऐसी मानसिक और बौद्धिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति नई सोच, भावनाओं, अनुभवों या विचारों को किसी रचनात्मक रूप (जैसे साहित्य, कला, संगीत, नाटक आदि) में व्यक्त करता है। रचनाधर्मिता केवल कल्पना नहीं होती, बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक संदर्भों से जुड़ी होती है। यह किसी लेखक, कलाकार या चिंतक की उस क्षमता को दर्शाती है, जिससे वह यथार्थ को समझकर उसे रचना के माध्यम से नए दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत करता है। इस प्रकार, रचनाधर्मिता का संबंध मौलिकता, संवेदनशीलता और सामाजिक चेतना से होता है।
34. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 65
35. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 14-15
36. गायकवाड, डॉ. सुचिता, दलित उपन्यासों में व्यक्त स्त्री चरित्र, पृ. 23
37. वही, पृ. 24
38. वही।
39. वही, पृ. 25
40. वही, पृ. 24
41. वही, पृ. 25
42. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 65; आजकल, दिसम्बर 2000 पृ. 41
43. गायकवाड, डॉ. सुचिता, दलित उपन्यासों में व्यक्त स्त्री चरित्र, पृ. 25
44. गर्ग, मृदुला, "दलित साहित्य : ऐतिहासिक तर्क और आज की माँग", कथाक्रम" दलित विशेषांक, नबंर, 2000 पृ. 125
45. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 65
46. नावरिया, अजय, "दलित साहित्य की प्रामाणिकता का प्रश्न", 'वसुधा' 8 जुलाई-सितम्बर, 2003, पृ. 295
47. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 66
48. वही,
49. वही, पृ. 66-67
50. वही, पृ. सं. 67
51. पाण्डे, मैनेजर, मेरे साक्षात्कार, किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, 1998, पृ. 128
52. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 67
53. सिंह, श्रीभगवान, "दलित साहित्य के अपने प्रतिमान", 'वागर्थ', जून, 2004, पृ. 28-29; ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 67-68
54. सिंह, श्रीभगवान, "दलित साहित्य के अपने प्रतिमान", पृ. 28-29
55. भारती, कँवल, "परम्परा का पुनर्मूल्यांकन करना चाहता है दलित साहित्य, 'वागर्थ', जून, 2004, पृ. 33; ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 68-69
56. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 69
57. वही, पृ. 70
58. गुप्ता, रमणिका, दलित हस्तक्षेप, शिल्पायन, दिल्ली, 2004, पृ. 19; ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2014, पृ. 70
59. ठाकुर, हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 70
60. वही, पृ. 70

❑❑❑

आलेख

# अंग्रेजी साम्राज्यवाद का अहिंसक विद्रोही

❍ रवि कुमार झा*

गुलामी, स्वतंत्रता और स्वराज तीन ऐसे प्रश्न हैं जिनका समाधान आज भी नहीं हुआ है। भले ही 1947 ई. में हमने अंग्रेजों को भारत से खदेड़ दिया परन्तु उनकी साम्राज्यवादी भाषा अंग्रेजी की गुलामी हमने आज तक नहीं छोड़ी है। भारतीय भाषाएँ अंग्रेजी के साम्राज्य के सामने आज भी परतंत्र है और अपनी स्वतंत्रता की राह ताक रही हैं और जहाँ तक स्वराज का प्रश्न है तो स्वतंत्रता के बाद भी हमें स्वराज नहीं मिला है। स्वतंत्रता आंदोलन का लक्ष्य सिर्फ अंग्रेजों को सत्ता से बेदखल करना नहीं था और न ही राजनीतिक आजादी तक सीमित था। एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्वतंत्रता आंदोलन का लक्ष्य सांस्कृतिक आजादी और स्वराज से भी जुड़ा था। वह स्वराज जिसके बारे में गाँधी जी कहते थे, "जब स्वराज आयेगा, जब अंग्रेजी हुकूमत उठ जाएगी, तब अंग्रेजी का प्रभाव भी उठ जाएगा। इस बीच जिनके ख्याल से अंग्रेजी का प्रभाव मुल्क के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ है, वे सिर्फ राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी का या अपनी मातृभाषा का ही प्रयोग करेंगे।"[1] स्वतंत्रता के इतने वर्षों के बाद भी गाँधी जी का स्वप्न, स्वप्न ही बना हुआ है। भारत का अन्त्यज और आम जनमानस आज भी अपने स्वराज से दूर है और अंग्रेजी जानने वाले मुट्ठीभर लोग गाँधी जी के स्वप्नों को कुचलकर जश्न मनाने में मशगूल हैं। स्वतंत्रता आंदोलन में भाषा का प्रश्न सिर्फ भावनात्मक प्रश्न नहीं था बल्कि सांस्कृतिक आजादी और स्वराज से जुड़ा हुआ प्रश्न था। गाँधी जी डंके की चोट पर कहते थे कि, "अगर भाषा के मोल पर स्वराज मिलता है तो मैं उसे लेने से इनकार कर दूँगा।"[2] यह विडम्बना ही है कि हमें स्वतंत्रता मिली लेकिन भाषा के ही मोल पर। गाँधी जी के अनुयायियों ने ही उनके विचारों की हत्या की और उसमें साथ दिया अंग्रेजीदाँ प्रभुवर्ग ने। अंग्रेजी जाननेवाले एक खास तरह के प्रभुवर्ग को अंग्रेजों के जमाने में भी कोई ख़ास दिक्कतें नहीं थीं तब उनका रूतबा हुआ करता था और आजादी के बाद उन्हीं का कब्जा संपूर्ण भारत पर हो गया। इस कारण राजनीतिक आजादी के बाद भी सांस्कृतिक रूप से हम फिर गुलाम बन गये और अंग्रेजी का तौक अपने गले में सगर्व लटका लिया। हमारे स्वतंत्रता सेनानी भाषा के रूप में अंग्रेजी के विरोधी नहीं थे बल्कि अंग्रेजी के सामंतशाही और उसके वर्चस्ववादी प्रवृत्ति के विरोधी थे। गाँधी जी खुद कहते थे कि, "कहना आवश्यक नहीं है कि मैं अंग्रेजी भाषा से द्वेष नहीं करता हूँ। अंग्रेजी साहित्य भंडार से मैंने भी बहुत रत्नों का उपयोग किया है। अंग्रेजी भाषा की मारफत हमें विज्ञान आदि का खूब ज्ञान लेना है। अंग्रेजी का ज्ञान भारतवासियों के लिए बहुत आवश्यक है। लेकिन इस

* पी.डी.एफ. शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
*मो. 9990172668; ई.मेल : ravikumarjhajnu@gmail.com*

भाषा को उसका उचित स्थान देना एक बात है, उसकी जड़ पूजा करना दूसरी बात है।"[3] गाँधीजी यह बहुत जल्दी समझ गये थे कि अंग्रेजी सत्ता की आधारशिला में अंग्रेजी भाषा का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है इसलिए ताउम्र वे अंग्रेजी की जड़ पूजा के खिलाफ खड़े रहे।

महात्मा गाँधी से पूर्व राजनीतिक परिदृश्य में अंग्रेजी का ही बोलबाला था। काँग्रेस की सभाओं में भी नेतागण अंग्रेजी में ही भाषण दिया करते थे। भारत आने के बाद महात्मा गाँधी ने इस पूरे परिदृश्य को ही बदल दिया। दक्षिण अफ्रीका में संघर्ष के दौरान ही उन्होंने समझ लिया था कि बिना अंग्रेजी को हटाये अंग्रेजों से संपूर्ण आजादी प्राप्त नहीं की जा सकती है। भारत में आने से पूर्व ही 'हिन्द स्वराज' में अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं, "हरेक पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा का, हिन्दू को संस्कृत का, मुसलमानों को अरबी का पारसी को फारसी का और सबको हिन्दी का ज्ञान होना चाहिए।... सारे हिन्दुस्तान के लिए जो भाषा चाहिए, वह तो हिन्दी ही होनी चाहिए। उसे उर्दू या नागरी लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिए। हिन्दू-मुसलमानों के संबंध ठीक रहें, इसलिए बहुत से हिन्दुस्तानियों का इन दोनों लिपियों को जान लेना जरूरी है। ऐसा होने से हम आपस के व्यवहार में अंग्रेजी को निकाल सकेंगे।"[4] हिन्दी को आपस के व्यवहार की भाषा बनाना और अंग्रेजी को बाहर निकालना, अंग्रेजी सत्ता की नींव को खोदने का गाँधीवादी सूत्र था। इस सूत्र को गाँधी अपने पूरे संघर्ष में और धार देते रहे परन्तु अंग्रेजी सत्ता और काले अंग्रेजों ने गाँधी जी को कभी सफल नहीं होने दिया। अंग्रेजों ने बड़ी चालाकी से हमें राजनीतिक रूप से गुलाम बनाया लेकिन सांस्कृतिक रूप से हम स्वयं उनके गुलाम बनते गये। इस गुलामी का परिणाम यह हुआ कि हमें अपनी भाषा-भूषा, रहन-सहन सबसे घृणा होने लगी। हमें अंग्रेजों के 'फूट सोल्जर' होने में गर्व महसूस होने लगा। हमें अपनी सभ्यता और संस्कृति से नफरत होने लगी। हममें त्रिशंकुपन उत्पन्न होने लगा। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा उस त्रिशंकुपन को और उसके परिणाम को सटीक रूप से पहचानते हुए लिखते हैं, "अंग्रेजी का यों कहिए कि सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि उन्होंने प्रत्येक भारतीय वस्तु के प्रति विमुखता और अनास्था उत्पन्न कर दी। दो सौ वर्षों तक वे सदा यही घोषित और प्रचारित करते रहे कि भारतीय, संस्कृति और साहित्य निस्सार और अनुपादेय है और उनके इस प्रचार को हमने बड़ी सजगता से ग्रहण किया, हम मान बैठे कि हमारा सबकुछ हीन है। इसलिए जिस तत्परता से स्वाधीन राष्ट्र अपनी वस्तुओं के प्रति आत्मीयता अनुभव करता है, उसका हममें लोप हो गया और आज भी हम उस मनोवृत्ति से मुक्त नहीं हो पाए हैं।"[5] अंग्रेज हमें सभ्य बनाने आये थे और असभ्य बना के चले गये। हमारे इस परिवर्तन में अंग्रेजी शिक्षा का भी उल्लेखनीय योगदान है। अंग्रेजी शिक्षा ने ही हमें भारतीय से काले अंग्रेज बनाने में महत्ती भूमिका निभाई है। गाँधी जी अन्य राजनेताओं से बेहतर इस बात को समझते थे, इसलिए वे सदैव अंग्रेजी शिक्षा को लेकर आलोचनात्मक रहे। हिन्द स्वराज में उन्होंने मैकाले की शिक्षानीति की कटु आलोचना करते हुए लिखा, "करोड़ों लोगों को अंग्रेजी की शिक्षा देना उन्हें गुलामी में डालने जैसा है। मैकाले ने शिक्षा की जो बुनियाद डाली, वह सचमुच गुलामी की बुनियाद थी। उसने इसी इरादे से अपनी योजना बनाई थी, ऐसा मैं सुझाना नहीं चाहता लेकिन उसके काम का नतीजा यही निकला है। यह कितने दु:ख की बात है कि हम स्वराज्य की बात भी पराई भाषा में करते हैं?"[6] गुलामी की जो नींव मैकाले ने डाली उसपर इमारत बनाने का कार्य हमारे मैकालेपुत्र नवशिक्षित भारतीयों ने किया। अंग्रेजी के मद और मोह में वे सिर्फ भारतीय भाषाओं से ही नहीं कटे बल्कि आमजनमानस से भी दूर हो गये। यह परिस्थिति अंग्रेजों के लिए तो फायदेमंद रही लेकिन हमारे लिए नुकसानदायक रही और इसका परिणाम हम आजतक भुगत रहे हैं। गाँधी जी मैकाले और मैकालेपुत्रों की इस मनोवृत्ति और इसके परिणाम दोनों से आगाह थे। इसलिए इस मनोवृत्ति का विरोध करते हुए वे कहते हैं, "हमने अपनी मातृभाषाओं के मुकाबले अंग्रेजी से ज्यादा मुहब्बत रखी, जिसका नतीजा यह हुआ कि पढ़े-लिखे और राजनीतिक दृष्टि से जगे हुए ऊँचे तबके के लोगों के साथ आमलोगों का रिश्ता बिल्कुल टूट गया और दोनों

के बीच गहरी खाई बन गई। यही वजह है कि हिन्दुस्तान की जबानें या भाषाएँ गरीब बन गई हैं और उन्हें पोषण नहीं मिला। अपनी मातृभाषा में अटपटे और गहरे तात्विक विचारों को प्रकट करने की अपनी व्यर्थ चेष्टा में हम गोते खाते हैं। हमारे पास विज्ञान की कोई निश्चित परिभाषा नहीं– पारिभाषिक या इस्तिलाही शब्द नहीं। इस सबका नतीजा खतरनाक हुआ है।"[7] जिस मैकाले और मैकालेपुत्रों के कारण हमारी भाषाएँ गरीब बन गई। उन्हीं मैकालेपुत्रों ने आजादी के बाद भारतीय भाषाओं की समृद्धता और पारिभाषिक शब्दावली के अभाव को बढ़ा–चढ़ा कर प्रस्तुत किया और अंग्रेजी को भारत से हटने नहीं दिया। जिसका परिणाम आज हम बखूबी देख रहे हैं। आजादी के पूर्व गाँधी जी को इन परिस्थितियों का भान था। वे इन मैकालेपुत्र काले अंग्रेजों की मनःस्थिति से पूर्णतः परिचित थे। इसलिए आमजनमानस के हित के लिए अंग्रेजी का विरोध करते थे और कहते थे, "यह कभी हो नहीं सकता कि हजारों लोग अंग्रेजी भाषा को अपना माध्यम बनाएँ और अगर मुमकिन हो तो भी चाहने लायक तो कतई नहीं। उसकी सीधी–सादी वजह यह है कि अंग्रेजी के जरिये मिलनेवाला उच्च और पारिभाषिक ज्ञान आम लोगों तक पहुँच नहीं सकता।"[8] गाँधीजी के भाषा चिन्तन के केन्द्र में सदैव आम जनता रही और इस सामान्य जनता के लिए अंग्रेजी का विरोध करते रहे। उसी दौर में जहाँ अन्य नेतागण हिन्दी–उर्दू का झंडा उठाकर अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंक रहे थे वहाँ गाँधी जी भारतीय अस्मिता और आमजनमानस के पक्ष में खड़े होकर अंग्रेजी का विरोध कर रहे थे। उनके लिए भाषा राजनीति का प्रश्न नहीं था बल्कि स्वराज से जुड़ा प्रश्न था। इसलिए अपने 1931 के भाषण में उन्होंने कहा, "अगर स्वराज अंग्रेजी बोलने वाले भारत का उन्हीं के लिए होने वाला है तो निस्संदेह अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा होगी लेकिन अगर स्वराज करोड़ों भूखों मरनेवालों, करोड़ों निरक्षरों, निरक्षर बहनों और दलित व अन्त्यजों का हो और सबके लिए होनेवाला हो, तो हिन्दी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।"[9] उस दौर में स्वराज और राष्ट्रभाषा को लेकर इतनी स्पष्ट समझ किसी और राजनेता में नहीं थी और इससे ज्यादा कटु रूप से किसी राजनेता ने अंग्रेज और अंग्रेजी का विरोध नहीं किया। गाँधी जी इस दृष्टि का मूल्यांकन करते हुए अजय तिवारी ने बिल्कुल सही लिखा है कि, "मैकाले के लिए भाषा का प्रश्न साम्राज्य के प्रभुत्व से जुड़ा था और गाँधी के लिए भाषा का प्रश्न जनसाधारण के स्वराज से जुड़ा था। अपने अहिंसक आंदोलन के जरिये गाँधीजी ने साम्राज्य को हर स्तर पर चुनौती दी थी। राजनीतिक स्तर पर, आर्थिक स्तर पर और सांस्कृतिक स्तर पर। उनके लिए स्वराज, स्वदेशी और स्वभाषा सब परस्पर जुड़े हुए थे।"[10]

गाँधीजी न तो भाषाशास्त्री थे और न ही उनकी मातृभाषा हिन्दी थी। उनकी पूरी दीक्षा अंग्रेजी माध्यम से हुई थी और उन्होंने इंग्लैंड में बैरिस्टरी की पढ़ाई पढ़ी थी परन्तु राष्ट्रभाषा को लेकर उनकी समझ स्पष्ट थी। भाषाशास्त्रियों से अलग राष्ट्रभाषा को लेकर उनके अपने सामाजिक–सांस्कृतिक तर्क थे। राष्ट्रभाषा के लिए उन्होंने पाँच आवश्यक तत्व माने हैं। भड़ौंच के अपने भाषण में इन तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं, (i) अमलदारों के लिए वह भाषा सरल होनी चाहिए। (ii) उस भाषा के द्वारा भारतवर्ष का आपसी धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार हो सकना चाहिए। (iii) यह जरूरी है कि भारत के बहुत से लोग उस भाषा को बोलते हों (iv) राष्ट्र के लिए वह भाषा आसान होनी चाहिए (v) उस भाषा का विचार करते समय किसी क्षणिक या अल्प स्थिति पर जोर नहीं देना चाहिए। अंग्रेजी भाषा में इनके एक भी लक्षण नहीं है।"[11] भले ही अंग्रेजी भाषा में गाँधीजी ने इनमें से एक भी लक्षण नहीं देखा हो परन्तु उनके चेलों ने अंग्रेजी में इन सारे तत्वों को देख लिया था इसलिए आजादी के बाद भी आजतक हम राष्ट्रभाषा से वंचित हैं। यह विडम्बना ही है कि जिस तरह से हमने अंग्रेजों का विरोध किया उस प्रकार से कभी अंग्रेजी का विरोध नहीं किया। अंग्रेजी बोलना सदैव गर्व और सम्मान का विषय रहा। काँग्रेस और उस समय के प्रबुद्ध वर्ग में भी अंग्रेजी को लेकर एक अलग तरह का सम्मोहन था। गाँधीजी ने पहली बार इस सम्मोहन को तोड़ा और उन्होंने मंच से हिन्दी में भाषण देना

प्रारंभ किया और नेताओं को आमजनमानस से जुड़ने के लिए प्रोत्साहित किया। अपने भाषणों में वे अक्सर कहा करते थे कि, "एक क्षण के लिए यह न सोचें कि आप अंग्रेजी को जनसाधारण के बीच अभिव्यक्ति का सामान्य माध्यम बना सकेंगे। बाईस करोड़ भारतीय हिन्दुस्तानी जानते हैं। उन्हें और कोई भाषा नहीं आती। अगर आप बाईस करोड़ भारतीयों के दिलों में पैठ जाना चाहते हैं तो आपके लिए हिन्दुस्तानी ही एकमात्र भाषा है।"[12] उनके भाषणों के कारण एक ऐसा वातावरण तैयार हुआ कि लोग सार्वजनिक जगह पर अंग्रेजी में बोलने पर शर्मिंदा होने लगे और भारतीय भाषाएँ धीरे-धीरे सार्वजनिक मंचों पर सम्मानित स्थान प्राप्त करने लगी। नेताओं का भी हृदय परिवर्तन होने लगा और वे भी क्षमा याचना के बाद ही अपनी बात अंग्रेजी में रखते थे। गाँधीजी ही वे पहले आदमी थे जिन्होंने वायसराय से भी अंग्रेजी में ख़तो-ख़िताबत करने से मना कर दिया और वायसराय को भी भारतीय भाषाएँ सिखने की सलाह दे डाली। गाँधीजी ने काका कालेलकर से इस संदर्भ में साफ कहा, "अगर उन्हें यहाँ राज करना है तो हमारी भाषा सीखनी होगी, या फिर किसी दुभाषिए को अपने पास रखना होगा जो उन्हें समझाया करे। अपनी गर्ज से ही तो वे राज कर रहे है?"[13]

ऐसे दृढ़ विचारों वाले गाँधीजी को जब अपने ही देश में अंग्रेजी में भाषण देने पर मजबूर होना पड़ता तो अनायास ही उन्हें ग्लानि होने लगती। अपनी पीड़ा को व्यक्त करते हुए अपने ऐसे ही एक भाषण में उन्होंने कहा, "मुझे जब कभी अपने देशवासियों की सभा में अंग्रेजी बोलने के लिए बाध्य होना पड़ता है, तभी मैं अपमान और लज्जा अनुभव करता हूँ।"[14]

गाँधी जी ने पहली बार अंग्रेजों को ही नहीं बल्कि अंग्रेजी को भी उसकी वास्तविक स्थिति से परिचित करवाया। गुलाम भारतवासियों के हृदय में अपनी भाषा को लेकर गर्व का भाव भरा। काँग्रेस को भी अंग्रजीदाँ लोगों के कब्जे से निकालकर आमलोगों से जोड़ा। अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत में ही उन्होंने काँग्रेस से अंग्रेजी हटाने का उद्योग शुरू कर दिया। उन्होंने अपने 1918 के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सार्वजनिक भाषण में कहा, "हमें ऐसा उद्योग करना चाहिए कि एक वर्ष में राजकीय सभाओं में, काँग्रेस में, प्रान्तीय सभाओं में और अन्य सभा-समाज और सम्मेलनों में अंग्रेजी का एक भी शब्द सुनाई न पड़े। हम अंग्रेजी का व्यवहार बिल्कुल त्याग दें। अंग्रेजी सर्वव्यापक भाषा है पर यदि अंग्रेज सर्वव्यापक न रहेंगे तो अंग्रेजी भी सर्वव्यापक न रहेगी। अब हमें अपनी मृतभाषाओं को नष्ट करके उनका खून नहीं करना चाहिए।"[15] गाँधी जी के सप्रयत्नों के कारण ही कांग्रेस ने 1925 ई. में भारतीय भाषाओं के संदर्भ में अपना प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव में गाँधी जी की छाप स्पष्ट दिखती है। काँग्रेस का प्रस्ताव कुछ इस प्रकार था, "यह कांग्रेस तय करती है कि कांग्रेस का, कांग्रेस की महासमिति का और कार्यकारिणी समिति का कामकाज आम तौर पर हिन्दुस्तानी में चलाया जाएगा। जो वक्ता हिन्दुस्तानी में नहीं बोल सकते, उनके लिए या जब-जब जरूरत हो, तब अंग्रेजी या प्रान्तीय भाषा का इस्तेमाल किया जा सकेगा। प्रान्तीय समितियों का काम साधारणतया उन-उन प्रांतों की भाषा में किया जाएगा। हिन्दुस्तानी का उपयोग भी किया जा सकता है।"[16] यह बात दूसरी है कि इस प्रस्ताव को कभी नेताओं ने जमीन पर उतरने ही नहीं दिया। काँग्रेस के अंग्रेजीदाँ नेताओं ने भाषा के मुद्दे पर सदैव गाँधी जी का असहयोग किया और भारतीय भाषाओं की कमियाँ ही निकालने में मशगूल रहे। उनसे चिढ़कर ही गाँधीजी को कहना पड़ा, "मालूम होता है कि अंग्रेज विद्वानों के टक्कर की अंग्रेजी सीखने के असफल प्रयत्न में दूसरी भाषाएँ सीखने की उनकी सारी शक्ति चुक जाती है। नजीता बहुत ही दर्दनाक हुआ है। हमारी प्रांतीय भाषाएँ कंगाल और निस्तेज बन गई हैं और राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी पथभ्रष्ट हो गई है। यही वजह है कि आज देश के लाखों-करोड़ों लोगों के साथ मुट्ठीभर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग ही कुदरती तौर पर आम रियाया के रहनुमा है।"[17] यहाँ यह बात गौर करने की है कि जिस प्रकार मुट्ठीभर अंग्रेज संपूर्ण भारत के रहनुमा बने हुए थे। उसी प्रकार कुछ मुट्ठीभर अंग्रेंजीदाँ लोग भारत के लाखों-करोड़ों लोगों के रहनुमा बने हुए थे और जिस प्रकार अंग्रेज गाँधी जी के सत्याग्रह

से डरते थे उसी प्रकार यह मुट्ठीभर अंग्रेजीदाँ लोग उनके भाषाग्रह से डरते थे। उन्हें लगता था कि अंग्रेजों के हटते ही हमारी भी सत्ता चली जाएगी। गाँधी जी अपने सार्वजनिक भाषणों में यहाँ तक कहते थे कि, "कुछ सौ अमलदारों या हाकिमों की सहूलियत के लिए करोड़ों लोगों को एक परदेशी भाषा सीखनी पड़ती है, यह बेहूदेपन की हद है।"[18] इन सौ अमलदारों ने अंग्रेजों से गठबंधन कर अपनी सत्ता बचाने के लिए क्षेत्रीय भाषाएँ खतरे में हैं का नारा बुलंद करना शुरू किया। साथ-ही-साथ हिन्दी और उर्दू की लड़ाई को और हवा दी तथा इसे कभी सुलझाने नहीं दिया। अंग्रेजों की बाँटो और राज करो नीति को इस वर्ग का भी समर्थन प्राप्त था। उस दौर में गाँधीजी पर राष्ट्रभाषा को लेकर कई तरफ से आक्रमण हो रहे थे और कई तरह की चुनौतियाँ उनके सामने थीं जिसकी तरफ इशारा करते हुए 1937 ई. में वर्धा के भाषण में कहते हैं, "ऐसे अंग्रेजीदाँ लोगों का भी देश में एक मजबूत दल है, जो कहते हैं कि अंग्रेजी ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हो सकती है। काशी और प्रयाग के पंडित तो संस्कृतमयी हिन्दी को चाहते हैं और दिल्ली और लखनऊ के आलिम फारसी लफ्जों से लदी हुई उर्दू को। एक तीसरा दल भी है, जिससे लड़ना पड़ता है। यह दल हमेशा यह आवाज उठाता रहता है कि 'प्रांतीय भाषाएँ खतरे में है'।"[19] उस दौर में भी प्रांतीय भाषाएँ खतरे में नहीं थीं बल्कि नेताओं द्वारा नेतागिरी को चमकाने के लिए यह नारा उछाला गया था। गांधीजी खुद गुजराती थे और मातृभाषा के अनन्य उपासक थे। वे तो पूरे भारत में संपर्क स्थापित करने के लिए और भारत को एकजुट करने के लिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहते थे। अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए वे साफ कहते हैं, "हिन्दी या हिन्दुस्तानी के प्रचार का उद्देश्य यह कदापि नहीं कि वह प्रांतीय भाषाओं का स्थान ग्रहण कर ले। यह तो उनकी सहायता के लिए और अन्तर्प्रान्तीय कामों के लिए है।"[20] भारत जैसे देश में जहाँ कोस कोस पर पानी और ढाई कोस पर वाणी बदल जाती है वहाँ एक-दूसरे से संपर्क साधे बिना अंग्रेजों से नहीं लड़ा ही जा सकता था। गाँधीजी ने इतिहास से भी सबक लिया था, जिस ओर इशारा करते हुए भाषाशास्त्री दिलीप सिंह लिखते हैं, "संगठित भारत' की तरह ही राष्ट्रीय एकता भी गाँधी का सपना था जिसे वे जानते थे कि एक राष्ट्रभाषा के बिना साकार नहीं किया जा सकता। वे अच्छी तरह समझ चुके थे कि ब्रिटिशों के खिलाफ 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में हमारी पराजय इसलिए हुई कि हमारे बीच भिन्न-भिन्न भाषा समुदायों को जोड़ने वाली कोई ऐसी भाषाई कड़ी नहीं थी जो हमें एकता के सूत्र में पिरो सकती या जिसके माध्यम से हम एक दूसरे के नजदीक पहुँच पाते, एक-दूसरे के आत्मीय बन पाते। हम लड़ते तो रहे लेकिन अलग-अलग। हमारी शक्ति बँटी हुई थी, सो हमें हारना ही था।"[21] गाँधी जी इतिहास की भूल को दोहराना नहीं चाहते थे और एक संगठित राष्ट्र के लिए एक राष्ट्रभाषा आवश्यक मानते थे। भारतीय भाषाओं से तो उनका कोई विरोध ही नहीं था और जिस भाषा से विरोध था उसके रहनुमाओं ने हिन्दी-उर्दू की तकरार और बढ़ानी शुरू की। गाँधी जी उनके कुटिल चालों को बखूबी समझते थे इसलिए सदैव हिन्दी-उर्दू के मेल के पक्ष में खड़े रहे। उनका साफ कहना था, "हिन्दी-उर्दू का झगड़ा छोड़ने से राष्ट्रीय भाषा का सवाल सरल हो जाता है।... अंग्रेजी भाषा का मोह दूर करने के लिए इतना परिश्रम करना पड़ेगा कि हमें लाजिम है कि हम हिन्दी-उर्दू का झगड़ा न उठावें। लिपि की तकरार भी हमको नहीं करनी चाहिए।"[22] क्योंकि राष्ट्रीय भाषा का सवाल हल होने से सत्ता का प्रश्न उलझ जाता इसलिए सरकार, नेता और नौकरशाहों ने इस सवाल को और उलझा दिया तथा इसे सांप्रदायिक रंग में रंग दिया। गाँधी जी बार-बार कहते रहे कि- "हिन्दू-मुसलमानों के बीच जो भेद किया जाता है, वह कृत्रिम है। ऐसी ही कृत्रिमता हिन्दी व उर्दू भाषा के भेद में है। हिन्दुओं की बोली से फारसी शब्दों का सर्वथा त्याग और मुसलमानों की बोली से संस्कृत का सर्वथा त्याग अनावश्यक है। दोनों का स्वभाविक संगम गंगा-जमुना के संगम-सा शोभित और अचल रहेगा।"[23] परन्तु किसी पक्ष ने गाँधी जी की बात नहीं सुनी। गाँधी जी बार-बार राष्ट्रीय भाषा के समाधान के लिए राष्ट्रीय भाषा का नाम परिवर्तित करते रहे और नये नाम के साथ नया विवाद शुरू होता रहा। उन्होंने जिस भाषा को पहले

हिन्दी कहा फिर विरोध के बाद उसी भाषा को हिन्दी-हिन्दुस्तानी कहना शुरू किया और इस नाम के भी विरोध के बाद उसे हिन्दुस्तानी कहना शुरू किया लेकिन इसका भी जमकर विरोध हुआ। इस विरोध के कारण अंग्रेजी सुरक्षित हो गई और राष्ट्रभाषा की हार हो गई। सत्ता, नेता और नौकरशाही ने अंग्रेजी की खिलाफत न करके देश के ही टुकड़े करवा दिए और उन टुकड़ों पर भी अंग्रेजी को ही स्थापित कर दिया।

गाँधीजी देश-विभाजन के बाद भी अंग्रेजी के पक्ष में नहीं थे और इसे जल्दी से जल्दी हटाना चाहते थे। स्वतंत्रता के बाद तो अंग्रेजी के प्रति उनकी उग्रता और बढ़ गई। उन्होंने जोर देकर कहा, "मैं कहता हूँ कि सांस्कृतिक अपहारक के रूप में अंग्रेजी को भी हमें उसी तरह निकाल फेंकना चाहिए, जिस तरह हमने अंग्रेजों के राजनीतिक शासन को सफलतापूर्वक उखाड़ फेंका।"[24] गाँधीजी का लक्ष्य राजनीतिक अपहारक को हटाने के बाद सांस्कृतिक अपहारक को हटाना था परन्तु उनकी असामयिक मृत्यु के बाद ऐसा नहीं हो पाया और गाँधीजी के चेलों ने 15 वर्षों के लिए सांस्कृतिक गुलामी को ससम्मान अपना लिया और उसके बाद आजतक हम उस गुलामी को ढोते ही आ रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद गाँधी जी ने घोषित किया कि उन्हें अंग्रेजी नहीं आती परन्तु हमारे नेताओं ने अपने कार्यों से यह सिद्ध कर दिया कि उन्हें अंग्रेजों से भी अच्छी अंग्रेजी आती है। इसका सुप्रमाण है कि भारत आज भी अपने सांस्कृतिक अपहारक की बेड़ियों से जकड़ा हुआ है।

**संदर्भ :**

1. महात्मा गाँधी, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण-2008, पृ. 209
2. वही, पृ. 62
3. वही, पृ. 13
4. महात्मा गाँधी, हिन्द स्वराज, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण-2015, पृ. 110
5. आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्याएँ और समाधान, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2014, पृ. 51
6. महात्मा गाँधी, हिन्द स्वराज, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण - 2015, पृष्ठ 109
7. महात्मा गाँधी, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण - 2008, पृष्ठ 112
8. वही, पृ. 18
9. वही, पृ. 37
10. सं. राकेश पांडेय, गाँधी और हिन्दी, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, संस्करण - 2017, पृ. 341
11. महात्मा गाँधी, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण-2008, पृ. 4
12. सं. राकेश पांडेय, गाँधी और हिन्दी, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, संस्करण - 2017, पृ. 41
13. वही, पृ. 146
14. वही, पृ. 46
15. महात्मा गाँधी, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण-2008, पृ. 10
16. वही, पृ. 25
17. वही, पृ. 123
18. वही, पृ. 19
19. सं. राकेश पांडेय, गाँधी और हिन्दी, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, संस्करण- 2008 ई., पृ. 86
20. महात्मा गाँधी राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण - 2017, पृ. 31
21. सं. दयानिधि मिश्र, गाँधी और हिन्दी सृजन-संदर्भ, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, संस्करण- 2020 ई., पृ.

83–84

22. महात्मा गाँधी, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण–2008, पृ. 12
23. वही, पृ. 11
24. सं. राकेश पांडेय, गाँधी और हिन्दी, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृ. 112

❑❑❑

आलेख

# अभिव्यक्ति की आज़ादी पर प्रतिबंध और प्रेमचंद का 'सोज़े वतन'

❍ कुमारी उर्वशी✡

आज के दौर में साहित्यकार अक्सर शिकायत करते हैं कि गवर्नर, मुख्यमंत्री उन्हें पहचानते तक नहीं। शासन उनके साहित्य को मान्यता नहीं देता। जब तक कब्र में पांव लटक न जाए तब तक उनके साहित्य को सत्ता महत्व नहीं देती। यहाँ सवाल यह है कि लेखक अपनी संवेदनशीलता की वजह से लेखक बनते हैं किसी सरकार ने उनसे नहीं कहा कि वह लिखें। लेखक की अभिव्यक्ति की पीड़ा कलम उठाने को विवश करती है। इस प्रक्रिया में शासन बीच में कहाँ से आता है। शासन से समझौता तो लेखन को कमजोर कर सकता है। यह सुनने में अजीब लगता है मगर सच है। साहित्य यदि सत्ता का मुँह ना देखे और सामाजिक सच्चाई से मुँह ना चुराए तो उससे सरकारें डरती हैं। सरकार का यह डर आज का अर्थात नया नहीं है बल्कि सदियों पुराना है। सरकार द्वारा दर्ज विरोध यह दिखाता है कि साहित्य में व्यक्त विचार कितने ताकतवर हो सकते हैं। साहित्य की ताकत और सरकार का डर समझने के लिए हमें इतिहास की तरफ लौटना होगा। भारत का वह इतिहास जब ब्रिटिश सरकार स्वतंत्रता संग्राम सैनानियों के साथ-साथ साहित्यकारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने के लिए हर संभव प्रयास कर रही थी।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि साहित्य शुरू से अपने समय की सत्ता के विपक्ष की भूमिका में रहा है। कुछ चारण प्रवृत्ति के कवि और उनकी सत्ता को समर्पित रचनाओं को छोड़ दें, तो यह सत्ता और साहित्य का अंतर्विरोध सनातन है। हर समय की सत्ता का समीकरण धर्म, जाति, राष्ट्र आदि पर टिका रहा है, पर रचनाकार की भावभूमि इनसे परे, समस्त मानव समाज की बेहतरी के लिए समर्पित रहा है। यही बात हर समय में मौजूद बुद्धिजीवियों की भी होती है। ग्राम्शी और बाद में एडवर्ड सईद ने तो विस्तार से बुद्धिजीवी और साहित्य, खासकर जनबुद्धिजीवी की भूमिका को सरकारों से आगे समाज विकास और मानव चेतना के विकास को अपरिहार्य हिस्सा माना है। कबीर से लेकर केदारनाथ सिंह तक और मीर से लेकर जान ऐलिया तक के रचना संसार इसकी तस्दीक करते दिखाई पड़ते हैं।

प्रेमचंद के काल और रचना संसार पर गौर किया जाए तो हम पाते हैं कि प्रेमचंद ने जब लिखना शुरू किया, उस समय पहले विश्व युद्ध का आगाज हुआ था और जब उनका निधन हुआ तब दूसरे विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि

---

✡ *अिसस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, रांची महिला महाविद्यालय,रांची, झारखंड; मोबाइल 9955354365.*
*ईमेल : urvashiashutosh@gmail.com*

तैयार हो चुकी थी। यह दौर बहुत ही उथल-पुथल भरा था। सोवियत रूस में बोल्शेविक क्रांति हुई थी तो जर्मनी-इटली में फासीवादी-नाजीवादी सत्तारूढ़ हो चुके थे। भारत में स्वाधीनता आंदोलनकारी काफी सक्रिय थे। भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद और गांधी जी स्वाधीनता आंदोलन के केंद्रीय व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित थे। इन सब का प्रेमचंद के लेखन और उनके विचारों के निर्माण में योगदान था।

प्रेमचंद ने पूंजीवाद को 'विष की गांठ' माना। उनकी समझ थी कि दुनिया में अन्याय व अत्याचार, शोषण व उत्पीड़न, द्वेष व मालिन्य, अज्ञानता और मूर्खता सभी का स्रोत यही है। उन्होंने रूस की समाजवादी क्रांति में एक नई सभ्यता के उदय को देखा था। प्रेमचंद आर्य समाज के सुधार आंदोलन तथा गांधीजी के विचारों से सर्वाधिक प्रभावित थे। लेकिन जब उनकी विसंगतियाँ और सीमाएँ उजागर हुईं, वे उनकी भी आलोचना करते रहे।

प्रेमचंद की मान्यता थी कि न सिर्फ ब्रिटिश उपनिवेश के अधीन भारत है बल्कि एक आंतरिक उपनिवेश भी है जो यहाँ के विशाल श्रमिक समाज को अपना गुलाम बनाए हुए है। इसीलिए जहाँ वे पूंजीवादी शोषण से मुक्ति की बात करते हैं, वही सामंती जकड़न, पुरोहितवाद, ब्राह्मणवाद, सांप्रदायिकता, धर्मांधता, ईश्वरवाद जैसे पुनरुत्थानवादी विचारों से भी उनका अनवरत संघर्ष चलता रहा है। इस तरह प्रेमचंद की नजर में भारत की आजादी का आशय इस दोहरी गुलामी से मुक्ति में था।

औपनिवेशिक काल में प्रतिबंधित हिंदुस्तानी साहित्य की बात की जाए तो हिंदी साहित्य संसार में प्रेमचंद की उपस्थिति युगप्रवर्तक की रही है। वह एक ऐसे रचनाकार थे जिन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों से बीसवीं शताब्दी के आरंभिक तीन दशकों में ढेरों मिसालें कायम कीं। यह वह दौर था, जब राजनीति के साथ ही साहित्य भी समाज सुधार के आंदोलनों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हुए मनुष्य को वैचारिक रूप से देशप्रेम के प्रति उन्मुख करने और उसे कर्मशील बनाकर स्वाधीनता आंदोलन के प्रति जागरूक करने में लगी थी। नवाबराय के रूप में उनके उर्दू अफसानों की किताब 'सोजे वतन' ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त (?) कर ली गई थी। इस लिहाज से इसका ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि ब्रिटिश हुकूमत द्वारा लंबे अरसे तक जमींदोज कर दिए गए इन महत्वपूर्ण अफसानों का एक बड़ा सामाजिक, राजनीतिक आशय है, जो स्वतंत्रता प्राप्ति की आकांक्षा को मानवीय ढंग से समझाता है।

कथाकार प्रेमचंद समाज में स्वस्थ परंपरा और मानवतावादी विचार के पक्षधर थे। वह स्वराज का अर्थ व्यापकता में देखते थे। देश में पूंजीपतियों और अंग्रेजों की हुकूमत से मुक्ति, शोषण का अंत, सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति तथा समाज में व्याप्त विसंगतियों और विषमताओं से मुक्ति उनके स्वराज में शामिल था। प्रेमचंद 30 अक्टूबर 1933 को जागरण में लिखते हैं कि राष्ट्रवाद चाहे और कोई उपकार न कर सके देश में खून खच्चर तो नहीं कराता, कुछ लोगों को एकत्र तो करता है जो राष्ट्र को संप्रदाय से ऊपर समझते हैं, वही बुनियाद है जिस पर राष्ट्र का भवन खड़ा होता है। जब तक राष्ट्र के भिन्न-भिन्न अंग एक दूसरे के अहित पर अपना हित निर्माण करते हैं हिंदी राष्ट्र का पतन होता चला जाएगा। प्रेमचन्द का राष्ट्रवाद, गाँधीवादी राष्ट्रवाद का ही एक रूप था।

प्रेमचंद के राष्ट्रवाद संबंधित विचारों तथा मान्यताओं पर डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं, "प्रेमचंद का हृदय संकुचित राष्ट्रवाद से ऊपर था। वे जानते थे कि इंसाफ और नई जिंदगी के लिए तमाम दुनिया की आम जनता जो लड़ाई लड़ रही है हिंदुस्तान का स्वाधीनता आंदोलन उसी का हिस्सा है। वह हिंदुस्तान के लोगों में एक नया भाव देख रहे थे कि दुनिया के तमाम मेहनत करने वाले लोग भाई भाई हैं।"[1]

महान कथा सम्राट तथा इंसाफ पसंद लेखक प्रेमचंद की नजर में राष्ट्र की अवधारणा स्पष्ट थी। प्रेमचंद

एक साथ शोषण से मुक्ति चाहते थे और गुलामी से भी। उनका कहानी संग्रह 'सोजे वतन' यानी देश का दर्द सन् उन्नीस सौ आठ में प्रकाशित हुआ था, तब हमारा देश आजाद नहीं हुआ था और पराधीन था, इसलिए हमीरपुर के कलेक्टर ने इस कहानी संग्रह को देशद्रोह माना और इस कहानी संग्रह की सारी प्रतियाँ जला दी (?) गईं। यह दौर था, जब देश में बंगाल विभाजन के विरोध में आंदोलन चल रहा था। देश में आजादी की भावना आलोड़ित हो रही थी। इस कहानी संग्रह में मुंशी प्रेमचंद जी की पहली प्रकाशित कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' भी शामिल है। इस कहानी संग्रह में कुल 5 कहानियाँ हैं -

1. दुनिया का सबसे अनमोल रतन
2. शेख मखमूर
3. यही मेरा वतन है
4. शोक का पुरस्कार
5. सांसारिक प्रेम और देश प्रेम

हिंदी साहित्य में लोकप्रिय प्रेमचंद के साहित्यिक जीवन का आरंभ 1901 से हो चुका था। आरंभ में वे नवाब राय के नाम से उर्दू में लिखते थे। प्रेमचंद की पहली रचना के संबंध में रामविलास शर्मा लिखते हैं कि प्रेमचंद की पहली रचना, जो अप्रकाशित ही रही, शायद उनका वह नाटक था जो उन्होंने अपने मामा जी के प्रेम और उस प्रेम के फलस्वरूप चमारों द्वारा उनकी पिटाई पर लिखा था। इसका जिक्र उन्होंने 'पहली रचना' नाम के अपने लेख में भी किया है। उनका पहला उपलब्ध्ध लेखन उर्दू उपन्यास 'असरारे मआबिद' है जो ध ारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ। इसका हिंदी रूपांतरण 'देवस्थान रहस्य' नाम से हुआ। प्रेमचंद का दूसरा उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' है जिसका हिंदी अनुवाद 'प्रेमा' नाम से 1907 में प्रकाशित हुआ था। 1908 ई. में उनका पहला कहानी संग्रह 'सोजे-वतन' प्रकाशित हुआ। गुलाम भारत में देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत इस संग्रह को अंग्रेज सरकार ने प्रतिबंधित कर दिया और इसकी सभी प्रतियाँ जब्त (?) कर ली और इसके लेखक नवाब राय को भविष्य में लेखन न करने की चेतावनी दी गई। इसके कारण नवाब राय को नाम बदलकर प्रेमचंद के नाम से लिखना पड़ा। उनका यह नाम दयानारायन निगम ने रखा था। 'प्रेमचंद' नाम से उनकी पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी' 'जमाना' पत्रिका के दिसम्बर, 1910 के अंक में प्रकाशित हुई थी।

प्रेमचंद के पहले कहानी संग्रह 'सोजे वतन' की पाँचों कहानियाँ उर्दू भाषा में थीं। देशभक्ति इन कहानियों के केंद्र में है। वागर्थ पत्रिका के संपादक और सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंभुनाथ लिखते हैं- "उनके कहानी संकलन 'सोजेवतन' की 700 प्रतियाँ जब्त करके जला दी गई थीं। फिराक गोरखपुरी ने कहा था, 'सोजेवतन' के प्रकाशित होने से भारत के गल्प लेखन के इतिहास में एक शांत और मौन क्रांति हो गई। बीसवीं सदी के पहले दशक में राष्ट्रीय चेतना का एक नया ज्वार आया था, 'सोजेवतन' उसी की साहित्यिक प्रतिध्वनि था।"[2]

भारत देश का दर्द देश के बेटे और संवेदनशील साहित्यकार प्रेमचंद से छिपा नहीं था। देश के दर्द में डूबीं यह कहानियाँ जब निकली थीं, वह जमाना आजादी की उम्मीद का था। आजादी की ख्वाहिश में लिखी गई ये कहानियाँ भारत के औपनिवेशिक काल की सच्चाई बयाँ करती हैं। उस वक्त आजादी की बात कहती, आजादी को दुनिया का सबसे अनमोल रतन बताती इन कहानियों को मुंशी प्रेमचंद ने सरकारी नौकरी करते हुए नवाब राय के नाम से लिखी थी। इन कहानियों की खासियत यही थी कि इसके कथ्य में छुपी आजादी की ख्वाहिश अंग्रेजों ने भी समझ ली। खुफिया पुलिस ने सुराग पा लिया कि यह नवाब राय कौन हैं। हमीरपुर के कलक्टर ने फौरन मुंशी प्रेमचंद को तलब किया और प्रेमचंद बैलगाड़ी पर सवार होकर रातों रात पहुंचे। सरकारी छानबीन पक्की थी और अपना जुर्म इकबाल करने के अलावा प्रेमचंद के लिए कोई दूसरा चारा नहीं था। हुक्म

हुआ कि इस कहानी संग्रह सोजे वतन की कापियाँ मँगाई जाएं और आग की नजर की जाए। यह कहानी संग्रह इस लिहाज से ऐतिहासिक महत्व का है कि ब्रिटिश हुकूमत द्वारा लंबे अरसे तक जमींदोज कर दिए गए इन महत्वपूर्ण कहानियों का एक बड़ा सामाजिक, राजनीतिक आशय है, जो स्वतंत्रता प्राप्ति की मानवीय आकांक्षा को समझाता है।

सोजे वतन में प्रेमचंद आजादी से पहले के समय के समाज और अंग्रेजी शासन के बारे में लिख रहे थे। उन्होंने जनता के शोषण, दुख, दर्द और उत्पीड़न को बहुत बारीकी से महसूस किया और उसे लिखा। लेकिन अंग्रेजी हुकूमत को ये गवारा नहीं था। उनकी आँखों के सामने 'सोज़े-वतन' की सभी प्रतियाँ जला दी गईं। कलेक्टर ने प्रेमचंद के बिना अनुमति के लिखने पर भी पाबंदी लगा दिया। इस घटना के बाद उन्होंने नवाब राय की जगह प्रेमचंद के नाम से लिखना शुरू कर दिया। उन्होंने कहानी, नाटक, उपन्यास, लेख, आलोचना, संस्मरण, संपादकीय जैसी अनेक विधाओं में साहित्य लिखा। उन्होंने कुल 300 से ज्यादा कहानियाँ, 3 नाटक, 15 उपन्यास, 10 अनुवाद, 7 बाल-पुस्तकें लिखीं। इसके अलावा सैकड़ों लेख, संपादकीय लिखे जिसकी गिनती नहीं है। प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान दिया था, जिसे देखकर बंगाल के विख्यात उपन्यासकार शरतचंद्र चट्टोपाध्याय ने उन्हें 'उपन्यास सम्राट' के नाम से संबोधित किया था।

हिंदी साहित्य संसार में प्रेमचंद की उपस्थिति युगप्रवर्तक लेखक की रही है। एक ऐसे रचनाकार, जिन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों से बीसवीं शताब्दी के आरंभिक तीन दशकों में ढेरों मिसालें कायम कीं। कथाकार प्रेमचंद के यहाँ किसी भी प्रकार की दासता, रूढ़ि, अंधविश्वास और अन्याय के प्रतिरोध की आवाज इतनी बुलंद है कि कई दफा छोटी-छोटी कहानियों में मौजूद साधारण से, लगभग हाशिए पर उपस्थित अनाम किरदारों में भी यह स्वर गंभीरता से सुना जा सकता है। प्रेमचन्द की चिंता देश और समाज की बुनियादी समस्याओं को लेकर प्रकट हुई है। इसलिए प्रेमचन्द के यहाँ समाज के हरेक वर्ग के प्रति सहानुभूति है। इस दृष्टिकोण से अगर देखें तो प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य 'सोज़े-वतन' है।

प्रेमचंद के कहानी संग्रह 'सोजे वतन' की बात करें तो यह ऐसी कहानियों का संग्रह है, जहाँ अफसाना निगार प्रेमचंद की भाषा में उर्दू की खुशबू शिखर पर देखी जा सकती है। 'सोजे वतन' का पहला प्रकाशन 1908 में हुआ था और इसे मुंशी दयानारायण निगम ने जमाना कार्यालय, कानपुर से प्रकाशित किया था। यह माना जाता है कि इसकी पहली कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' संभवतः 1907 में लिखी गई, मगर इसका प्रकाशन 1908 में ही मिलता है। यह कहानी दिलफिगार जैसे सच्चे आशिक की है, जो अपनी माशूक दिलफरेब की यह शर्त पूरा करने के लिए जी-जान लगा देता है कि दुनिया का सबसे अनमोल रतन उसे ढूंढ़कर ला देगा। देशप्रेम की भावना से भरी और इंसानी जज्बे को मार्मिकता से बखानने वाली यह कहानी दुनिया का सबसे अनमोल रतन पहचानकर समाज के आगे लाती है। कहानी में उर्दू और हिंदी का बेहतरीन इस्तेमाल किया गया है। साथ ही यह कहानी कई तरह के अनमोल हीरों को ढूंढ़ने की समझ और अंत में इस प्रेरणा से खत्म होने वाली है कि 'खून का वह आखिरी कतरा, जो वतन की हिफाजत में गिरे, दुनिया की सबसे अनमोल चीज है।'[3] यह कहानी आज भी बांधती है और इसके सरोकार उस औपनिवेशिक दौर को रेशा-रेशा उघारकर रख देते हैं, जब भारत में स्वराज्य पाने का सपना समाज में आहिस्ता आहिस्ता फैलना शुरू हुआ था। संग्रह की एक अन्य कहानी 'सांसारिक प्रेम और देशप्रेम' में मैजिनी और मैग्डलीन की प्रेम कहानी के बहाने देशप्रेम की भावना बेहद खूबसूरती से चित्रित की गई है। 'यही मेरा वतन है' और 'शोक का पुरस्कार' भी ऐसी कहानियाँ हैं, जिन्हें पढ़कर यह समझा जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार को इन्हें जब्त करने और जलाने की जरूरत क्यों पड़ी।

यह समय की मांग थी तथा प्रेमचंद की संवेदनशीलता भी की न जाने उन्होंने कितनी ऐसी कहानियाँ रची

हैं, जो पराधीनता में तड़पते हुए भारत का अंतर्मन व्यक्त करती हैं। प्रेमचंद की औपनिवेशिक काल में प्रतिबंधित कहानियों के साथ साथ कुछ अन्य कहानियों की स्त्रियाँ, बच्चे, दलित और वंचित आजादी की ख्वाहिश रखते हैं। उनकी कहानियों में एक तरफ गांधी जी, क्रांतिकारी युवा, नेतागण और आदर्शवादी समाज है, तो दूसरी ओर दरोगा और सिपाही भी उस कालखंड का इतिहास बयाँ कर देते हैं। कथाकार प्रेमचंद की कहानियाँ एक जीता-जागता इतिहास प्रतीत होती हैं जिसमें से स्वराज्य का चटख स्वप्न झांकता हुआ महसूस किया जा सकता है।

सोजे वतन की भूमिका में प्रेमचंद ने लिखा था कि हरेक कौम का इल्मो-अदब अपने जमाने की सच्ची तस्वीर होता है। जो खयालात कौम के दिमाग को गतिमान करते हैं और जो जज्बात कौम के दिलों में गूँजते हैं, वो नज्मो-नस्त के सफों में ऐसी सफाई से नजर आते हैं जैसे आईने में सूरत। हमारे लिटरेचर का शुरुआती दौर वो था कि लोग गफलत के नशे में मतवाले हो रहे थे। इस जमाने की अदबी यादगार बजउज आशिकाना गजलों और चंद फदहास किस्सों के और कुछ नहीं। दूसरा दौर उसे समझना चाहिए जब कौम के नए और पुराने खयालात में जिंदगी और मौत की लड़ाई शुरू हुई और इस्लाहे-तमद्दुन (सांस्कृतिक सुधार) की तजवीजें सोची जाने लगी। इस जमाने के कसम-व-हिकायत ज्यादातर इस्लाह और तज्दईद ही का पहलू लिए हुए है। अब हिन्दुस्तान के कौमी ख्याल ने बालिगपन के जीने पर एक कदम और बढ़ाया है और हुब्बे-वतन के जज्बात लोगों के दिलों में उभरने लगे हैं। क्यूँकर मुमकिन था कि इसका असर अदब पर न पड़ता? ये चंद कहानियाँ इसी असर का आगाज हैं और यकीन है कि जूं-जूं हमारे ख़याल वसीह होते जायेंगे, इसी रंग के लिटरेचर का रोज-बरोज फरोग होता जायेगा। हमारे मुल्क को ऐसी की किताबों की असद जरूरत है, जो नयी नस्ल के जिगर पर हुब्बे-वतन की अजमत का नक्शा जमाएँ।

प्रेमचन्द के लिए वतन शब्द का अर्थ बेहद भावुकता से भरा हुआ था। वह मानचित्र पर विशिष्ट भूखंड को वतन का नाम नहीं देते थे उनका वतन उस विशिष्ट भूखंड के रहनुमा विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों से था। उनकी संवेदनशीलता सम्पूर्ण मानवता को लेकर थी। प्रेमचन्द भारतीय समाज में फैली कुरीतियों, अंधविश्वासों, दलितों और गरीबों पर अत्याचार, स्त्रियों की स्थिति, जमींदारी प्रथा से लेकर भारत की गुलामी और भारत की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को लेकर चिंतित थे। वे देश की बुनियादी समस्याओं को समझते हुए कथाकार की दृष्टि से गुलामी से मुक्ति का अर्थ अंग्रेजियत से मुक्ति मानते हैं। कभी वे मंदिरों में धर्म के नाम पर होने वाले व्यभिचारों और पाखण्डों का चित्रण करते हैं तो कभी समाज की एक बड़ी चुनौती विधवा विवाह पर प्रकाश डालते हैं। कभी एक मध्यमवर्गीय समाज की समस्याओं को रेखांकित करते हैं तो कभी 'सोजे-वतन' के मार्फत क्रांति की बात करते हैं।

'सोजे वतन' की पहली कहानी है 'दुनियां का सबसे अनमोल रतन'। इस कहानी में एक वीर सैनिक की वीरता को उद्घाटित किया गया है जो मातृभूमि की रक्षा करने के लिए अपने प्राणों की आहुति देने में ही परम संतुष्टि महसूस करता है उसके रक्तरंजित शरीर से निकलती रक्त की बूंदे ही दुनियां का सबसे अनमोल रतन हैं। 'शेख मखमूर' कहानी का पात्र मखमूर एक ऐसा सिपाही है जो अपने एकनिष्ठ व कठिन प्रयासों से देश को आजाद करने में सफल होता है, वह अन्य लोगों के लिए प्रेरणा बनता है जिससे उनमें भी देशभक्ति की भावना का संचार होता है। 'यही मेरा वतन है' कहानी एक प्रवासी व्यक्ति का अपने देश के प्रति प्रेम दर्शाता है। एक लम्बे समय तक विदेश में रहने के बाद भी वह अपनी पुरानी यादों के साथ अपने वतन को भी याद करता है। अपनी मातृभूमि पर वापस आकर उन्हें बहुत परिवर्तन दिखाई देता है पर उनका प्रेम किंचित मात्र भी कम नहीं होता। उन्हें जो आत्मिक संतुष्टि अपने देश में आकर मिली वह वर्षों विदेश में रहने के पश्चात् भी

नहीं महसूस हुई। 'सांसारिक प्रेम और देश प्रेम' कहानी में मुख्य पात्र मैजिनी अपने देश से अत्यंत प्रेम करता है। मैग्डलीन एक खूबसूरत महिला है जो मैजिनी से बहुत प्रेम करती है। मैजिनी चाहता है कि वो किसी और से विवाह करके सुखी जीवन व्यतीत करे किंतु मैडलिन का प्रेम उसके प्रति और बढ़ जाता है। मैजिनी ने देश प्रेम के लिए अपने प्रेम को स्वीकार नहीं किया। उसने व्यक्तिगत प्रेम को देश प्रेम पर न्योछावर कर दिया। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं कि "प्रेमचंद की आवाज सुनकर हमें अपने देश व जनता पर गर्व होता है उस जातीय संस्कृति पर गर्व होता है, जिसे प्रेमचन्द संवार रहे थे। प्रेमचंद की आवाज उस समय उठी थी जब पहले महायुद्ध में मानवध्वंसी तोपों की गड़गड़ाहट हवा में गूँज रही थी। आज भी जब विश्व में तीसरे युद्ध के बादल छाए हुए हैं उस स्वाधीनता संग्राम के सैनिक की वाणी विश्वशांति की रक्षा के लिए जनता का आह्वान करती है। प्रेमचंद की आवाज भारत की अजेय जनता की आवाज है। इसलिए प्रेमचंद आज भी हमारे साथ हैं।"[4]

प्रेमचंद के हृदय में अपने देश की आजादी की आग निरंतर धधकती रही और इसके लिए वे अपनी लेखनी को शस्त्र की भांति सफल प्रयोग करते रहे थे। 3 जनवरी सन् 1932 को बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम खत में प्रेमचंद लिखते हैं, "मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यह है कि स्वराज्य संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है मोटर और बंगले की मुझे हविश नहीं। हाँ यह जरूर चाहता हूँ कि दो चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूं पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही है।"[5]

प्रेमचंद राष्ट्रीयता के विकास में जातिगत भेदभाव को बड़ी रुकावट मानते थे। इसीलिए वे कहते हैं राष्ट्रीयता की पहली शर्त वर्णव्यवस्था, ऊँच-नीच का भेद और धार्मिक पाखण्ड की जड़ खोदना है। प्रेमचंद ने तत्कालीन विदेशी नीतियों के विरुद्ध एक आजादी की लड़ाई का मानचित्र तैयार किया और उसमें शामिल सभी वर्ग के लोगों की भलाई का ध्यान भी रखा। वह जानते थे कि मजदूर, किसान, मध्यवर्ग व अन्य सभी अपने सरोकारों से ही राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े हैं इसीलिए उनकी रचनाओं में इसकी विशद व्याख्या परिलक्षित होती है। प्रेमचंद कहते हैं कि असहयोग स्वराज्य के लिए है। स्वराज्य अर्थात् किसान मजदूर जनता का राज। दरअसल ये एक ऐसे भारत का स्वप्न देख रहे थे, जहाँ मनुष्य मनुष्य में भेद न हो। कोई भी किसी का शोषण न कर सके। उनके अनुसार इसे कोई भी नाम दिया जा सकता है वह नाम शायद सब ठीक होंगे और सब उतने ही गलत। नाम के फेर में क्यों पड़ते हो, वह तो छिलका है। छीलकर देखो अंदर क्या है। हाँ अगर नाम के बिना तुम्हारा काम नहीं चलता तो लो मैं दो नाम देता हूँ जनतावाद, लोकवाद। जनतंत्र नहीं, उसमें तो धोखा है। सभी अपने को जनतंत्र कहते हैं लेकिन जनता उसमें कहाँ है। लेकिन चीज को नाम दे देना ही काफी नहीं है उसका बिरवा लोगों के दिल में रोपना होगा। हमारे देश में अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ भारत की आम जनता की स्वाधीनता पाने की सहानुभूति साथ साथ जो राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा की जागृति है वह प्रेमचंद के कथा-साहित्य में राष्ट्रीय चेतना के स्वर के रूप में मुखर हुई है। पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े जनमानस तक अपनी बात पहुँचाना उन्हें एकत्र व संगठित करना उनमें अपने राष्ट्र के लिए राष्ट्र भक्ति पैदा करना अत्यधिक चुनौतीपूर्ण कार्य था। प्रेमचन्द की कहानियों से प्रेरित होकर लोग क्रांति पथ पर आगे बढ़ते गए। इस क्रांति की ज्वाला में न जाने कितने वीरों ने अपने प्राणों की भी परवाह न की और देश की गुलामी की जंजीरों को तोड़ने में अपनी महती भूमिका अदा की।

प्रेमचंद के राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित कहानियों में 'लालफीता' व 'जुलूस' जैसी कहानियां भी आती हैं। लालफीता कहानी का नायक हरिविलास मजिस्ट्रेट है। ईमानदार व न्याय प्रिय मजिस्ट्रेट हरिविलास का विचार है कि सरकार जब तक आत्मा के विरुद्ध आचरण करने को विवश न कर दे तब तक सरकारी नौकरी गुलामी

नहीं है। जब उसे लालफीते से बंधा हुआ एक गुप्त निर्देश पत्र मिलता है जिसमें उसे असहयोगियों का दमन करने की आज्ञा दी जाती है तब वह अपनी आत्मा का गला घोंटने के लिए तैयार नहीं हो पाता। तमाम आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी वह बीस वर्ष की सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दे देता है तथा वह ब्रिटिश सरकार के प्रति असहयोग प्रदर्शित करता है। वह विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार कर स्वदेशी पर बल देता है एवं उसके पुत्र शिवविलास का मत है कि इस चर्खे पर तो सब कुछ निर्भर है। राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित होकर हरिविलास का बड़ा पुत्र शिवविलास कॉलेज से अपना नाम कटवा लेता है। देश हित के लिए वह स्वावलंबन और आत्मविश्वास से भरा हुआ है। इस कहानी के माध्यम से प्रेमचंद बताते हैं कि स्वावलम्बन हमें आजादी दे सकता है तथा स्वराज्य से भारतीय जीवन का पुनरुद्धार होगा।

यदि बात करें सोजे वतन की कहानियों की तो देशप्रेम की भावना से भरी और इंसानी जज्बे को मार्मिकता से बखानने वाली कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' कई तरह के अनमोल हीरों को ढूंढ़ने की समझ और अंत में इस प्रेरणा से खत्म होने वाली कहानी है कि 'खून का वह आखिरी कतरा, जो वतन की हिफाजत में गिरे, दुनिया की सबसे अनमोल चीज है।' इस कहानी में प्रेमचंद का देशप्रेम साफ झलकता है। इस कहानी में खून का वह आखिरी कतरा जो वतन की हिफाजत में गिरे– दुनिया का सबसे अनमोल रतन माना गया। यह कहानी सच्चे प्रेमी के प्रेम परीक्षा की भी कहानी है। इस कहानी में अनमोल रतन के रूप में एक देशभक्त की शहादत का चित्रण है। इस कहानी में तत्कालीन स्वतंत्रता आन्दोलन को एक नई दिशा देने की कोशिश नजर आती है। यह कहानी आज भी लुभाती है और इसके सरोकार उस दौर को रेशा-रेशा उघारकर रख देते हैं, जब भारत में स्वराज्य पाने का सपना समाज में फैलना शुरू हुआ था।

अपनी बनावट में यह कहानी अलिफ-लैला की कहानियों की तर्ज पर लिखी गई है जिसमें दिलफिगार नामक युवक सौंदर्य की देवी मलका का सच्चा और उस पर अपनी जान देने वाला प्रेमी है। मलका दिलफिगार से कहती है कि अगर वह उसका सच्चा प्रेमी है तो वह दुनिया की सबसे अनमोल चीज लेकर उसके दरबार में हाजिर हो तभी वह उसे अपना दीदार कराएगी और उसे अपनी गुलामी में कबूल करेगी। आखिर दुनिया की सबसे अनमोल चीज क्या हो सकती है ? इसी विचार चिंतन में दिलफिगार यहाँ से वहाँ भटकता रहता है और कई बार प्रयास करने पर भी जब उसे दुनिया की सबसे अनमोल चीज नहीं मिलती तो अंत में वह एक सच्चे देशप्रेमी के खून का आखिरी कतरा लेकर मलका के दरबार में पेश होता है जिसे देखकर मलका खुश हो जाती है और उसे अपना मालिक कबूल करती है और कहती है कि 'खून का यह आखिरी कतरा जो वतन की हिफाजत में गिरे दुनिया की सबसे अनमोल चीज है'। वस्तुतः यह कहानी देशभक्ति के जज्बे को और वतन पर जान कुर्बान करने वाले भारत के सपूतों को सलाम करती है। कहानी यह संदेश भी देती है कि एक सच्चे देशभक्त के खून के इस आखिरी कतरे से ज्यादा अनमोल कोई चीज इस दुनिया में नहीं हो सकती है। अतः देशभक्ति की भावना सर्वोपरि है।

इसमें दिलफरेब दिलफिगार से कहती है कि, "अगर तू मेरा सच्चा प्रेमी है, तो जा दुनिया की सबसे अनमोल चीज लेकर मेरे दरबार में आ।"[6] उसे पहला रतन फाँसी पर चढ़ने वाले काले चोर की आँखों से टपका हुआ आँसू मिला किंतु दिलफरेब ने वह स्वीकार नहीं किया। वह दूसरा रतन प्रेमी तथा प्रेमिका की चिता की मुट्ठीभर राख लेकर दिलफरेब के दरबार में गया किंतु वह भी सबसे अनमोल रतन नहीं माना गया। खून का वह आखिरी कतरा जो वतन की हिफाजत में गिरे– दुनिया का सबसे अनमोल रतन माना गया।

'शेख मखमूर' कहानी एक सच्चे देशभक्त के चारित्रिक गुणों को बयां करती है। इस कहानी के केंद्र में मसऊद नामक युवक है जो बाद में शेख मखमूर के नाम से भी जाना जाता है। इसमें मसऊद नामक देशभक्त

के अद्‌भुत पराक्रम और वतन पर मर मिटने का जज्बा तो प्रेमचंद ने दिखाया ही है, साथ ही विपरीत हालातों में उसके असीम धैर्य का परिचय भी दिया है। वस्तुत: यह कहानी देशप्रेम की भावना को प्रसारित करते हुए देशभक्ति के जज्बे की विजय गाथा को प्रस्तुत करती है।

'यही मेरा वतन है' एक प्रवासी भारतीय की कहानी है जो अपनी आकांक्षाओं के वशीभूत होकर विदेश चला गया और आज जब उसके पास वो सभी सुख-सुविधाएँ है जिनको उसने चाहा था तब भी वह खुश नहीं है। सबकुछ होते हुए भी एक परायापन उसे विदेश में कचोटता रहता है। वह कहता है- "मैं यहाँ अपने देश से निर्वासित हूँ। यह देश मेरा नहीं है, मैं इस देश का नहीं हूँ। धन मेरा था, बीवी मेरी थी, लड़के मेरे थे और जायदादें मेरी थीं, मगर जाने क्यों मुझे रह रहकर अपनी मातृभूमि के टूटे-फूटे झोंपड़े, चार-छ: बीघा मौरूसी जमीन और बचपन के लंगोटिया यारों की याद सताया करती थी और अक्सर खुशियों की धूमधाम में भी यह खयाल चुटकी लिया करता कि काश अपने देश में होता !"[7]

आज अपनी मातृभूमि के लिए वह जितना लालायित है उसी मातृभूमि को छोड़कर वह कभी इस विदेश की चकाचौंध में आ बसा था। उसको किसी ने निर्वासित नहीं किया था बल्कि अपने लिए यह निर्वासन उसने स्वयं चुना था- "मुझे प्यारे हिन्दुस्तान से किसी जालिम की सख्तियों और इंसाफ के जबरदस्त हाथों ने अलग नहीं किया था। नहीं, जालिम का जुल्म और कानून की शक्तियां मुझसे जो चाहे कर सकती हैं मगर मेरा वतन मुझे नहीं छुड़ा सकतीं। यह मेरे बुलंद इरादे और बड़े-बड़े मंसूबे थे जिन्होंने मुझे देश निकला दिया।"[8] उसको अपना वतन याद आता है, बचपन याद आता है, वो गाँव याद आता है जहाँ उसका पालन-पोषण हुआ था। इसलिए सब कुछ छोड़कर वह अपने वतन वापस जाने का निर्णय लेता है। जिस हालत में वह मातृभूमि को छोड़कर विदेश गया था वही स्मृति उसके मन में बसी हुई है परंतु जब वह लौटकर भारतभूमि पर वापस आया तो सब कुछ बदला हुआ पाता है। वह यह महसूस करता है कि भारतभूमि अंग्रेजो के अधीन होकर अपना ध न बल खोती जा रही है। अब पहले जैसा कुछ नहीं बचा है यह सोचकर वह बहुत उदास होता है। जब रेल पर सवार होकर वह अपने गाँव को जाता है जो हरी-भरी पहाड़ियों के बीच में आबाद था, तो उसकी आँखों में आँसू भर आए। वह खूब रोया, क्योंकि वह उसका प्यारा देश न था। यह वो देश न था जिसके दर्शन की लालसा उसके दिल में लहरें लिया करती थीं। अपनी मातृभूमि कि इस अवस्था को देखकर उसे बहुत दु:ख होता है। अत: वह अपने जीवन के अंतिम दिन अपनी मातृभूमि में मिलकर रहना चाहता है और उन तमाम सुख-सुविधाओं को वह त्याग देता है जिनके लिए कभी उसने वतन को छोड़ा था।

वस्तुत: यह कहानी वतन से प्रेम की कहानी है जिसका अहसास उसे वतन से दूर जाने पर होता है। इस कहानी के संदर्भ में शम्भुनाथ लिखते हैं, " 'यही मेरा वतन है' कहानी में अमेरिका से हिन्दुस्तान लौटा प्रवासी एक प्रबल लगाव के साथ अपने गाँव और मुहल्ले की एक-एक चीज को देखता है। उसे गाँव में हल्के आध ुनिकीकरण के बावजूद चारों तरफ अवसाद दिखाई देता है, औपनिवेशिक अत्याचार के दृश्य दिखाई देते हैं। वह अंतत: अमेरिका न लौटकर यही गंगा किनारे बसकर अपनी बाकी जिन्दगी बिता देना चाहता है। यह कहानी पढ़कर पता चल सकता है कि बीसवीं सदी के पहले और आखिरी दशक के दृश्य में कितना फर्क आ चुका है।"[9]

शोक का पुरस्कार' एक ऐसे व्यक्ति की या कहें कि ऐसे पुरुष वर्ग को सम्बोधित कहानी है जो अपनी पतिव्रता पत्नी की अनदेखी कर पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित नए रंग ढंग में ढली स्त्रियों की तरफ आकर्षित हैं। जो अपनी पत्नी के गुणों की अनदेखी कर भौतिकता की चमक धमक को महत्व देते हैं। परंतु भौतिकता हमेशा ही नहीं रहती, रूप आज है तो कल निश्चित ही ढल जाएगा। प्रेमचंद इस कहानी में ऐसी स्थितियाँ रखते

हैं जिनमें व्यक्ति को यह एहसास होता है कि वास्तव में गुण हमेशा ही रूप पर भारी होते हैं। यह कहानी रूप के स्थान पर गुणों को स्थापित करती हुई दिखाई देती है।

एक अन्य कहानी 'सांसारिक प्रेम और देशप्रेम' में मैजिनी और मैग्डलीन की प्रेम कहानी के बहाने देशप्रेम की भावना बेहद खूबसूरती से चित्रित की गई है। 'सांसारिक प्रेम और देश प्रेम' यह कहानी एक ऐसे देशभक्त की है जिसका नाम जोजेफ मैजिनी है। वह इटली का नामवर देश-प्रेमी है। मैजिनी अपने देश इटली से अगाध प्रेम करता है और देश की स्वतंत्रता के लिए पुरजोर कोशिश करता है। उसके जीवन की मात्र एक ही अभिलाषा है कि उसका देश आजाद हो जाए और वहाँ जनता का शासन हो। मैजिनी इटली की दुर्दशा को देखकर उदास होता है और कहता है- "ऐ मजलूम इटली! क्या तेरी किस्मतें कभी न सुधरेंगी, क्या तेरे सैकड़ों सपूतों का खून जरा भी रंग न लाएगा ! क्या तेरे देश से निकाले हुए हजारों जाँनिसारों की आहों में जरा भी तासीर नहीं ! क्या तू अन्याय और अत्याचार और गुलामी के फंदे में हमेशा गिरफ्तार रहेगी। शायद तुझमें अभी सुधरने की, स्वतंत्र होने की योग्यता नहीं आयी। शायद मेरी किस्मत में कुछ दिनों और जिल्लत और बर्बादी झेलनी लिखी है। आजादी, हाय आजादी, तेरे लिए मैंने कैसे-कैसे दोस्त, जान से प्यारे दोस्त कुर्बान किए। कैसे-कैसे नौजवान, होनहार नौजवान, जिनकी माँएँ और बीवियाँ आज उनकी कब्र पर आँसू बहा रही हैं और अपने कष्टों और आपदाओं से तंग आकर उनके वियोग के कष्ट में आभगे, आफत के मारे मैजिनी को शाप दे रही हैं। कैसे-कैसे शेर जो दुश्मन के सामने पीठ फेरना न जानते थे, क्या यह सब कुर्बानियां, यह सब भेंट काफी नहीं हैं ? आजादी, तू ऐसी कीमती चीज है!"[10]

यही ख्वाहिश लिए आजीवन मैजिनी संघर्ष करता रहता है। उसके देशप्रेम के विचारों में बगावत के स्वर से आशंकित होकर मैजिनी को देश निकाला दे दिया जाता है परंतु अपने देश की आजादी का विचार लगातार मैजिनी के मन में चलता रहता है। उसके जीवन में मैग्डलीन नामक स्त्री आती है जो मैजिनी के देशप्रेम के विचारों से प्रभावित होकर उससे अगाध प्रेम करने लगती है परंतु मैनिजी देशप्रेम के लिए दृढ़ संकल्प है इसलिए वह मैग्डलीन के प्रेम निवेदन को स्वीकार नहीं करता। वह उसका एक मित्र की भांति सम्मान करता है। मैजिनी कहता है- "मैं तेरे प्रेम, सच्चे नेक और निःस्वार्थ प्रेम का आदर करता हूँ। मगर मेरे लिए, जिसका दिल देश और जाति पर समर्पित हो चूका है, तू एक प्यारी और हमदर्द बहन के सिवा और कुछ नहीं हो सकती।"[11] यह कहानी प्रेम के उदार स्वरूप को प्रस्तुत करती है जिसमें देशभक्ति की भावना निहित है। यह एक ऐसे देशभक्त की कहानी है जो अपने देश की रक्षा में अपने प्राणों की बाजी लगा देता है और एक ऐसी प्रेयसी जो अपना संपूर्ण जीवन उस देशभक्त प्रेमी को समर्पित कर देती है। मैजिनी की मृत्यु के बाद मैग्डलीन उसके नाम से एक आश्रम बनवाती है और बेसहारा लोगों की मदद करने में अपना जीवन लगा देती है। स्वयं लेखक के शब्दों में, "उसका प्रेम मामूली प्रेम न था, एक पवित्र और निष्कलंक भाव था और वह हमको उन प्रेम-रस में डूबी हुई गोपियों की याद दिलाता है जो श्रीकृष्ण के प्रेम में वृन्दावन की कुंजों और गलियों में मंडलाया करती थीं, जो उससे मिले होने पर भी उससे अलग थीं और जिनके दिलों में प्रेम के सिवा और किसी चीज की जगह न थी।"[12]

निर्विवाद रूप से प्रेमचंद बीसवीं सदी के सबसे बड़े रचनाकार हैं। उन्होंने सोजे वतन लिखकर स्वाधीनता-संग्राम को गति देने की कोशिश की थी। प्रेमचंद भारतीय साहित्य के ऐसे साधक हैं, जिन्होंने आजीवन भारतीय जीवन की आशाओं, सपनों, संभावनाओं एवं दुर्बलताओं को अपनी वाणी दी। उनका साहित्य भारतीय समाज, संस्कृति और सभ्यता का दर्पण स्वरूप है।

आज के समय में प्रेमचंद को याद करने का खास महत्व है। हमारी आजादी के अमृत महोत्सव वर्ष में

प्रेमचंद की चर्चा करना आवश्यक है। आजादी का अमृत किसके लिए है? समाज के बहुसंख्यक श्रमजीवियों, दलितों, शोषितों, स्त्रियों, आदिवासियों, हाशिए के समाज के लिए है या उन मुट्ठी भर शोषकों के लिए है जिन्होंने इन 75 वर्षों में देश को लूटा और इसका इस्तेमाल अपनी तिजोरी भरने में किया। क्रांतिकारियों के आजादी के स्वप्न के साथ प्रेमचंद ने भी आजादी का सपना देखा था। क्या वह स्वप्न साकार हुआ है?

प्रेमचंद की आजादी का मतलब 'जान की जगह गोविंद' को बिठाना नहीं था। प्रेमचंद के सामने आजादी का अर्थ साफ और स्पष्ट था। उनकी समझ इस संदर्भ में भगत सिंह के करीब थी। भगत सिंह ने भी तो कहा था कि आजादी का मतलब गोरे अंग्रेजों से काले अंग्रेजों के हाथों में सत्ता का हस्तांतरण नहीं है। इसका एकमात्र आशय यही है कि भारत की आजादी का मतलब किसान, मजदूर, शोषित उत्पीड़ित वर्गों के हाथों में वास्तविक सत्ता का होना है।

प्रेमचंद का साहित्य इसी वर्ग के संघर्ष, हर्ष-विषाद, पक्षधरता और मुक्ति-स्वप्न का अप्रतिम उदाहरण है। इसलिए आजादी के 75 साल के बाद जब हम प्रेमचंद को याद करते हैं, तो उस स्वप्न के नजरिए से 75 साल के हिंदुस्तान पर हमारी नजर जाती है कि यहाँ जिस अमृत की बात हो रही है, वह चंद लोगों के हिस्से में क्यों रहा और समाज का बड़ा वर्ग उससे वंचित क्यों? उसके हिस्से विष तो नहीं? वे सारे मूल्य संकट में हैं जिन्हें आजादी के संघर्ष में अर्जित किये गए। प्रेमचंद ने रचना और विचार के द्वारा इन्हें प्रतिष्ठित किया था। सारी जिन्दगी संघर्ष किया। उनका संघर्ष पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, सामंतवाद, पुरोहितवाद, सांप्रदायिकता से था। उन्होंने लोंगों को जगाने का काम किया। उनके लिए साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल थी। प्रगतिशीलता को साहित्यकार का स्वभाव माना था। उन्होंने कहा भी कि अब और अधिक सोना मृत्यु का लक्षण है। नि:सन्देह यह स्वयं के जागने और दूसरों को जगाने का वक्त है।

**संदर्भ :**


1. डॉ रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 47
2. शम्भुनाथ, दुस्समय में साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002, पृ. 62
3. प्रेमचंद, सोजे वतन, स्वर्ण जयंती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृ. 19
4. डॉ रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 158
5. अमृत राय (संकलन कर्ता), प्रेमचंद चिट्ठी पत्री भाग 2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. 77
6. प्रेमचंद, सोजे वतन, स्वर्ण जयंती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृ. 9
7. प्रेमचंद, सोजे वतन, स्वर्ण जयंती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृ. 40
8. प्रेमचंद, सोजे वतन, स्वर्ण जयंती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृ. 39
8. अमृत राय, कलम का सिपाही, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 291
9. शम्भुनाथ, दुस्समय में साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002, पृ. 62
10. प्रेमचंद, सोजे वतन, स्वर्ण जयंती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृ. 59
11. प्रेमचंद, सोजे वतन, स्वर्ण जयंती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृ. 64
12. प्रेमचंद, सोजे वतन, स्वर्ण जयंती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृ. 71


❑❑❑

आलेख

# वाल्मीकि और तुलसी के रामायण का पुनर्पाठ : विशेष संदर्भों में

❍ कुमार भास्कर*

[**प्रसंग :** *शबरी के जूठे बेर, सीता की अग्नि परीक्षा, शंबूक वध और उत्तरकांड, ब्राह्मणत्व, जातिवाद, नास्तिक-आस्तिक और बौद्ध धर्म, आर्य-अनार्य, वैदिक बनाम राक्षसी संस्कृति, वर्णाश्रम व्यवस्था, ऐतिहासिकता, ईश्वर का भोजन, दहेज प्रथा और संस्कृत साहित्य का तथाकथित पहला श्लोक*]

राम कथा में घटनाओं के विस्तार और रोचक प्रस्तुति से वह अपने पाठकों को बांध लेती है। मिथक रचना मनुष्य के कल्पनाओं और रहस्यों को मुकाम देता है। जिसमें कथाओं का बड़ा योगदान रहा है। मिथकों की प्रेरणा से ज्यादा प्रभावित समाज की स्थिति, संदेहास्पद होगी। मिथकों का इस्तेमाल अपने-अपने तरीके से किया जाता रहा है। इसलिए राम कथा के इतने सारे अलग-अलग पाठ हैं। मिथक इतिहास की जगह नहीं ले सकता है। लेकिन जब इतिहास और मिथक का भेद धुंधला दिया जाए तो संभावना है कि समाज की प्रेरणा का जोर यथार्थ पर नहीं रह जाए। ऐसे में समाज यथार्थ को भी मिथकों की तुलना में कम आँकता है और यह पूरी दुनिया के इतिहास में नजर आता है। जाति, धर्म, नस्ल और लिंग संबंधित असमानतामूलक अवधारणा इसके उदाहरण है, जिसको मिथकों ने और ज्यादा पुष्ट किया है। भारत में मिथकों के निर्माण का जातीय और लैंगिक आधार प्रभावशाली रहा है। इसलिए विसंगतियाँ आना स्वाभाविक है। महत्वपूर्ण यह है कि मनुष्य को मिथकीय और यथार्थपरक कथाओं की समझ; अपने तार्किक और मानवीय बुद्धिमत्ता के अनुसार, करना चाहिए।

मिथक, देवत्व की प्रेरणा से विचार को ज्यादा प्रभावित बना देता है, क्योंकि वहाँ ईश्वर मौजूद है। मनुष्य की ईश्वरीय प्रेरणा का आकर्षण उसकी कमजोरी को भी दर्शाता है। जहाँ मनुष्य होने की विशेषता ईश्वर से कमतर होना ही है। जो है? या नहीं? इसका प्रमाण नहीं, उसके आगे मनुष्य काल्पनिक कारणों से नतमस्तक है। लेख में रामायण की कथा को वाल्मीकि और तुलसी के वैचारिक प्रतिफल के रूप में देखा गया है।

भारतीय समाज में आज भी मिथक समाज के लिए प्रेरणा स्रोत, यथार्थ की तुलना में ज्यादा स्वीकृत हो पाया है। राम कथा के दो प्रसिद्ध पाठ; जिनमें से एक वाल्मीकि रामायण और दूसरा रामचरितमानस दोनों के बीच कई सौ वर्षों का फासला है। दो कथाओं के पाठ का भाव अलग है। इसलिए इतिहास के दृष्टिकोण से यह कथा, साहित्य के इतिहास का हिस्सा तो है, लेकिन इतिहास का नहीं है। कथाओं की प्रामाणिकता में

---

✡ *प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय; mob :- 9312154532*

भौगोलिक प्रमाण, आधे सच की तरह होते हैं। जैसे आज हम एक कहानी लिखे हैं तो उसके पात्र और घटनाएँ काल्पनिक हो सकते हैं। लेकिन उसकी भौगोलिक जानकारी सही होगी। अगर दिल्ली महानगर के ऊपर केंद्रित कथा हो तो, उसमें किसी गाँव, मेट्रो आदि का जिक्र होना यथार्थ होगा। हम प्राचीन काल में हवाई यात्रा की कल्पना को सच नहीं मान सकते, क्योंकि उसका प्रमाण नहीं है। इस लेख का दृष्टिकोण पाठ के भाववादी और यथार्थवादी सत्य की पड़ताल करना है। भावनाओं का क्या है! इसका इस्तेमाल कभी मनुवादी ढंग से भी किया जा सकता है और कभी संवैधानिक तरीके से भी किया जा सकता है। वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के कुछ महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध प्रसंग हैं, जिसका तार्किक विश्लेषण लगातार होता आ रहा है। उसी क्रम में यह लेख भी है। रामायण में प्रसिद्ध, शबरी का वह प्रसंग है। जो दलितों के मन में राम की समतामूलक मिजाज का परिचायक बनाया जाता रहा है:

**शबरी के जूठे बेर किसने खाए? :**

वाल्मीकि और रामचरितमानस जैसे प्रसिद्ध राम कथाओं में कहीं भी शबरी के द्वारा राम के जूठे बेर खाने का प्रसंग नहीं आता है –

"एवमुक्ता महाभागैस्तदाहं पुरुषर्षभ।
मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ ।।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसम्भवम्"

– (वाल्मीकि रामायण, अरण्यकांड, पृ. 665)

तात्पर्य है की पुरुषप्रवर! उन महाभाग महात्माओं ने मुझे उस समय ऐसी बात कही थी। अतः पुरुष सिंह! मैंने आपके लिये पम्पा तट पर उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के जंगली फल-फूलों का संचय किया है।"

रामचरितमानस में "कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि। प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि ।। ३४ ।।" (रामचरितमानस, अरण्यकांड, पृ. 665)

उन्होंने अत्यन्त रसीले और स्वादिष्ट कन्द, मूल और फल लाकर श्रीरामजी को दिये। प्रभु ने बार-बार प्रशंसा करके उन्हें सप्रेम खाया।"

तथापि, यह प्रसंग किसी और रामायण में हो सकता है। लेकिन प्रसिद्धि के आधार पर जिसने राम कथा को स्थापित किया वह तो वाल्मीकि और उसके बाद रामचरितमानस ही है। जातिवाद के भाव से प्रेरित वाल्मीकि के राम हो, चाहे समन्वयकारी और उदार तुलसी के राम हो। शबरी का यह प्रसंग वाल्मीकि और तुलसी के रामायण में तो नहीं, संभवतः किसी और रामायण से यह आया हो। सवाल है कि रामायण के कई पाठ हैं, उसमें से हिंदुत्ववादी पाठ अलग हो जाता है, जिसका उद्देश्य एक खास तरह के विचार और संस्कृति को स्थापित करना है। रामायण के कई पाठों का जिक्र ए.के. रामानुजन के निबंध 'तीन सौ रामायणें' में है। रामायण कथाओं की विविधता और उसके लचीलेपन को हिंदुत्ववादी विचारधारा स्वीकार नहीं करती है। क्योंकि वह उन्हें उपयुक्त नहीं लगता है। यानी अपनी सुविधा के अनुसार पाठ तैयार करना। शायद एक खास तरह के हिंदुत्व की धारा में सबको समेटने के लिए रची गई सुनियोजित मिथकीय साजिश लगती है। साहित्य के रचित अंश यथार्थ है। लेकिन उसकी काल्पनिक कथा, यथार्थ पर मिथक का निर्माण समाज को अपने अनुसार संचालित करने के लिए किया गया है। यानी मिथक पर मिथक का परत, सत्य तक पहुँचना और भी मुश्किल हो जाता है। कई बार ईश्वर को पाने के लिए, समावेशी विचारों से प्रेरित साहित्य बनाना पड़ता है। जिससे धर्म के नाम पर समाज जल्द ही काबू में आ जाता है। शबरी अंततः मुक्त होकर स्वर्ग को जाती है। उसकी मुक्ति के कारण राम बनते हैं। जो दलितों को उनकी ओर प्रेरित करता है। यथार्थ में न सही, पर काल्पनिक तरीके से वह एक विचार के

रूप में दलित समाज के मानसिक पटल पर आवेशित हो जाता है कि, राम के शरण में हमें इस जगत में तो ना सही लेकिन उस जगत में जरूर मुक्ति मिलेगी। यह मिथकों द्वारा नियंत्रित करने का एक बेहतरीन हथियार है। संभव है कि राम कथा को लोकप्रिय बनाने के लिए इन मनोवैज्ञानिक तत्वों का इस्तेमाल किया गया होगा।

**पुरुषवाद का पोषण और सीता की अग्नि परीक्षा :**

वाल्मीकि रामायण में सीता की अग्नि परीक्षा के कुछ प्रसंग इस प्रकार से हैं :

"विदितश्चास्तु भद्रं ते योऽयं रणपरिश्रमः ।
सुतीर्णः सुहृदां वीर्यान्न त्वर्थे मया कृतः ।। १५ ।।

तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें मालूम होना चाहिये कि मैंने जो यह युद्ध का परिश्रम उठाया है तथा इन मित्रों के पराक्रम से जो इसमें विजय पायी है, यह सब तुम्हें पाने के लिये नहीं किया गया है ।। १५ ।।"

"प्राप्तचारित्रसंदेहा मम प्रतिमुखे स्थिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढा ।। १७ ।।

तुम्हारे चरित्र में संदेह का अवसर उपस्थित है। फिर भी तुम मेरे सामने खड़ी हो। जैसे आँख के रोगी को दीपक की ज्योति नहीं सुहाती, उसी प्रकार आज तुम मुझे अत्यन्त अप्रिय जान पड़ती हो ।। १७ ।।"

"तद् गच्छ त्वानुजानेऽद्य यथेष्टं जनकात्मजे ।
एता दश दिशो भद्रे कार्यमस्ति न मे त्वया ।। १८।।

अतः जनक कुमारी । तुम्हारी जहाँ इच्छा हो। चली जाओ । मैं अपनी ओर से तुम्हें अनुमति देता हूँ। भद्रे। वे दसों दिशाएँ तुम्हारे लिये खुली हैं। अब तुमसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है ।। १८ ।।"

"कः पुमांस्तु कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम्।
तेजस्वी पुनरादद्यात् सुहल्लोभेन चेतसा ।। १९ ।।

कौन ऐसा कुलीन पुरुष होगा, जो तेजस्वी होकर भी दूसरे के पर में रही हुई स्त्री को, केवल इस लोभ से कि यह मेरे साथ बहुत दिनों तक रहकर सौहार्द स्थापित कर चुकी है, मन से भी ग्रहण कर सकेगा ।। १९ ।।"

"यदर्थे निर्जिता मे त्वं सोऽयमासादितो मया।
नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति ।। २१ ।।

"अतः जिस उद्देश्य से मैंने तुम्हें जीता था, वह सिद्ध हो गया-मेरे कुल के कलंक का मार्जन हो गया। अब मेरी तुम्हारे प्रति ममता या आसक्ति नहीं है। अतः तुम जहाँ जाना चाहो। जा सकती हो ।। २१ ।।" (वाल्मीकि रामायण, युद्धकांड, पृ. 1414)

इन सब आरोपों के बाद सीता जवाब देती हुई कहती हैं :

"पृथक्स्त्रीणां प्रचारेण जाति त्वं परिशङ्कसे ।
परित्यजैनां शङ्कां तु यदि तेऽहं परीक्षिता ।। ७ ।।

"नीच श्रेणी की स्त्रियों का आचरण देखकर यदि आप समूची स्त्री-जाति पर ही संदेह करते हैं तो यह उचित नहीं है। यदि आपने मुझे अच्छी तरह परख लिया हो तो अपने इस संदेह को मन से निकाल दीजिये ।। ७ ।।"

"यदहं गात्रसंस्पर्श गतास्मि विवशा प्रभो ।
कामकारो न मे तत्र देवं तत्रापराध्यति ।। ८ ।।

प्रभो ! रावण के शरीर से जो मेरे इस शरीर का स्पर्श हो गया है, उसमें मेरी विवशता ही कारण है। मैंने स्वेच्छा से ऐसा नहीं किया था। इसमें मेरे दुर्भाग्य का ही दोष है ।। ८ ।।"

"मदधीनं तु यत् तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते ।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरी ।। ९ ।।

जो मेरे अधीन है, वह मेरा हृदय सदा आपमें ही लगा रहता है (उस पर दूसरा कोई अधिकार नहीं कर सकता); परंतु मेरे अङ्ग तो पराधीन थे। उनका यदि दूसरे से स्पर्श हो गया तो मैं विवश अबला क्या कर सकती थी ।। ९ ।।" (वाल्मीकि रामायण, युद्धकांड, पृ.1415)

वाल्मीकि रामायण के इस प्रसंग में सीता, राम से संवाद करते हुए अपना पक्ष रखती है। सीता अपने आत्म-सम्मान के लिए, बहस करके अपनी बात को पुष्ट करती है। इसके बाद अग्नि परीक्षा को तैयार होती है।

तुलसीदास ने इस प्रसंग को बहुत लंबा नहीं लिखा है। यद्यपि सीता यहाँ पर राम से विवाद नहीं करती हैं, जो वाल्मीकि रामायण में नजर आता है। देखा जाए तो वाल्मीकि रामायण की सीता ज्यादा विद्रोही भाव की हैं। वह आत्म-सम्मान के लिए अपनी बात को रखती हैं। जबकि रामचरितमानस की सीता सहजता से इन चीजों को स्वीकार कर लेती हैं। दोनों पाठों में सीता का व्यक्तित्व अपने पति के लिए पूर्ण रूप से समर्पित है। लेकिन वाल्मीकि रामायण की सीता समर्पण के बावजूद भी आत्म-सम्मान का भाव ज्यादा रखती है, तुलनात्मक रूप में रामचरितमानस की सीता से। वही वाल्मीकि के राम बहुत ज्यादा पुरुषवादी और अहं केंद्रित व्यक्तित्व नजर आता है, जबकि तुलसी के राम इसकी तुलना में बेहतर नजर आते हैं। रामचरितमानस की अग्नि परीक्षा का प्रसंग वाल्मीकि रामायण से काफी अलग है:

"श्रीखंड सम पावक प्रबेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली ।
जय कोसलेस महेस बंदित चरन रति अति निर्मली ।।
प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महुँ जरे ।
प्रभु चरित काहुँ न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे ।। १ ।।

प्रभु श्रीरामजी का स्मरण करके और जिनके चरण महादेव जी के द्वारा वन्दित हैं तथा जिनमें सीताजी की अत्यन्त विशुद्धि प्रीति है, उन कोसलपति की जय बोलकर जानकी जी ने। चन्दन के समान शीतल हुई अग्नि में प्रवेश किया। प्रतिबिम्ब (सीताजी की छायामूर्ति) और उनका लौकिक कलंक प्रचण्ड अग्नि में जल गये। प्रभु के इन चरित्रों को किसी ने नहीं जाना। देवता, सिद्ध और मुनि सब आकाश में खड़े देखते हैं ।। १ ।।" (रामचरितमानस, लङ्काकाण्ड, पृ. 894, 895)

वाल्मीकि के राम, सीता को एक स्त्री के रूप में रावण के पास रहने के वजह से स्वीकार नहीं कर पाए; क्योंकि उनके अंदर अविश्वास है। साथ ही यह उनके पुरुषत्व के मान का भी मामला है। जबकि तुलसी के रामचरितमानस में सीता की नकल या प्रतिरूप रावण के पास थी। असल सीता तो कहीं और सुरक्षित थी। इस तरीके से तुलसी, सीता पर वह संकट ही नहीं आने देते हैं। जिसके लिए उस समय का समाज, राम के माध्यम से शक कर पाता और राम के लिए यह मानसिक चुनौती बन नहीं पाती है। इस अग्नि परीक्षा में वाल्मीकि रामायण की तरह राम, सीता पर लांछन नहीं लगाते हैं। क्योंकि उन्हें मालूम है कि वह सीता की नकल है। लेकिन यही राम क्या असली सीता के होने पर इस सहजता से स्वीकार कर पाते या नहीं? यह, तुलसी के

इस नजरिए से समझना होगा, जिसमें राम के चरित्र को वह उदार तो बनाते हैं, पर समाज के लिए वह सीता की हमशक्ल तैयार करते हैं। राम, तुलसी के विचारों के नायक हैं, जो वाल्मीकि के राम की तुलना में ज्यादा उदार हैं।

**शंबूक वध और उत्तरकांड :**

जिसको लेकर कई लोग कहते हैं कि वाल्मीकि रामायण का यह प्रसंग, जो उत्तरकांड में है, यह बाद में जोड़ा गया है। इसकी संभावना व्यक्त करते हैं। फिलहाल इसका कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उत्तरकांड बाद की रचना है। लेकिन वाल्मीकि रामायण में इसका प्रमाण जरूर मौजूद है, जो उत्तरकांड को इसका हिस्सा बनाता है। वाल्मीकि रामायण के बालकांड में उत्तरकांड का जिक्र आता है। जो यह प्रमाणित करता है कि यह वाल्मीकि रामायण के पाठ का अभिन्न हिस्सा है:

"चतुर्विंशत्सहस्त्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः ।
तथा सर्गशतान् पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम् ।। २ ।।

इसमें महर्षि ने चौबीस हजार श्लोक, पाँच सौ सर्ग तथा उत्तर सहित छह काण्डों का प्रतिपादन किया है ।। २ ।।"

"कृत्वा तु तन्महाप्राज्ञः सभविष्यं सहोत्तरम् ।
चिन्तयामास को न्वेतत् प्रयुञ्जीयादिति प्रभुः ।। ३ ।।

भविष्य तथा उत्तरकाण्ड सहित समस्त रामायण पूर्ण कर लेने के पश्चात् सामर्थ्यशाली, महाज्ञानी महर्षि ने सोचा कि कौन ऐसा शक्तिशाली पुरुष होगा, जो इस महाकाव्य को पढ़कर जनसमुदाय में सुना सके ।। ३ ।।" (वाल्मीकि रामायण, बालकांड, पृ. 36)

जो लोग उत्तरकांड को अपनी सुविधा के अनुसार वाल्मीकि रामायण का हिस्सा नहीं मानना चाहते हैं उनके लिए, तब तो लव-कुश के जन्म को भी अस्वीकार करना होगा। क्योंकि यह प्रसंग वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में ही मिलता है। लव-कुश का प्रसंग बालकांड में भी आता है। जो कथा सार के रूप में लव-कुश द्वारा राम कथा का गान करते हुए है। यह सोचते हुए कि उत्तरकांड, मूल वाल्मीकि रामायण का प्रक्षिप्त हिस्सा है, तो क्या लव-कुश की कहानी, सीता का धरती में समाना, श्रीराम द्वारा अश्वमेध यज्ञ, पुरुरवा की उत्पत्ति इत्यादि को अस्वीकार कर देंगे? यह नामुमकिन है, इसलिए वाल्मीकि रामायण की जो सीमाएं हैं और कमियाँ हैं। उसको स्वीकार कर लेना ही उचित होगा।

वाल्मीकि रामायण में शंबूक वध की घटना रामराज्य की अवधारणा को बना नहीं पाती है, जो तुलसी के यहाँ है। वैसे भी रामराज्य की अवधारणा रामचरितमानस से पुष्ट होती है ना कि वाल्मीकि रामायण से। वाल्मीकि रामायण के राजा राम, जाति के भावों से प्रेरित हैं, जिसकी वजह से राम, शंबूक- जो जाति का शूद्र है, उसका वध करते हैं। लेकिन यह 'वध' सवालों के घेरे में है। शम्बूक सिर्फ अपनी इच्छा जाहिर करने की वजह से मारा जाता है। शम्बूक इस समय, वर्णाश्रम व्यवस्था के लिए एक संभावित खतरा है। जो अनिष्ट की वजह बनकर, ब्राह्मण के बेटे की मृत्यु का संकेत के रूप में वाल्मीकि रामायण में प्रस्तुत किया जाता है। इसे न्याय तो नहीं कह सकते हैं?

शम्बूक और राम के बीच का वार्तालाप:

"शूद्रयोन्यां प्रजातोऽस्मि तप उग्रं समास्थितः।
देवत्वं प्रार्थये राम सशरीरो महायशः ।। २ ।।

महायशस्वी श्रीराम ! मैं शूद्रयोनि में उत्पन्न हुआ हूँ और सदेह स्वर्गलोक में जाकर देवत्व प्राप्त करना चाहता हूँ। इसीलिये ऐसा उग्र तप कर रहा हूँ ।। २ ।।"

"न मिथ्याहं वदे राम देवलोकजिगीषया ।
शुद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ शम्बूकं नाम नामतः ।। ३ ।।

ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम ! मैं झूठ नहीं बोलता। देव-लोक पर विजय पाने की इच्छा से ही तपस्या में लगा हूँ। आप मुझे शूद्र समझिये । मेरा नाम शम्बूक है ।। ३ ।।"

"भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम् ।
निष्कृष्य कोशाद् विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः ।। ४ ।।

वह इस प्रकार कह ही रहा था कि श्रीरामचन्द्र जी ने म्यान से चमचमाती हुई तलवार खींच ली और उसी से उसका सिर काट लिया ।। ४ ।।"

"तस्मिन्शूद्रे हते देवाः सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ।
साधुसाध्विति काकुत्स्थं ते शशंसुर्मुहुर्मुहुः ।। ५ ।।

उस शूद्र का वध होते ही इन्द्र और अग्नि सहित सम्पूर्ण देवता 'बहुत ठीक, बहुत ठीक' कहकर भगवान् श्रीराम की बारंबार प्रशंसा करने लगे ।। ५ ।।"

"गृहाण च वरं सौम्य यं त्वमिच्छस्यरिंदम ।
स्वर्गभाङ नहि शूद्रोऽयं त्वत्कृते रघुनन्दन ।। ८ ।।

शत्रुओं का दमन करने वाले रघुकुलनन्दन सौम्य श्रीराम ! आपके इस सत्कर्म से ही यह शूद्र सशरीर स्वर्गलोक में नहीं जा सका है। अतः आप जो वर चाहें माँग लें ।। ८ ।।"

"यदि देवाः प्रसन्ना मे द्विजपुत्रः स जीवतु ।
दिशन्तु वरमेतं मे ईप्सितं परमं मम ।। १० ।।

यदि देवता मुझ पर प्रसन्न हैं तो वह ब्राह्मण पुत्र जीवित हो जाय । यही मेरे लिये सबसे उत्तम और अभीष्ट वर है। देवता लोग मुझे यही वर दें ।। १० ।।" (वाल्मीकि रामायण, उत्तरकांड, पृ. 1624 -1625)

किसी शूद्र का तपस्या करना ही उस समय के समाज में और तथाकथित देवलोक के लिए स्वाभाविक चुनौती माना जाता होगा। ब्राह्मणवादी व्यवस्था में दखल, किसी जाति विशेष के लिए वर्जित था। राम के द्वारा शम्बूक वध के पीछे की कहानी उस मनुवादी मानसिकता को पुष्ट करती है। शम्बूक, प्रथम श्लोक(२) के प्रसंग में देवत्व की चाहत रखता है और वहीं देवत्व की चाहत को वाल्मीकि दूसरे प्रसंग(३) में देवताओं के ऊपर विजय पाने की साजिश के तौर पर देखते हैं। शायद यह समाज का जातिगत ढांचा ही है, जिसमें अपने स्थाई वर्णाश्रम कर्म को छोड़कर, दूसरे कर्म की ओर, कोई शूद्र अग्रसरित होता है तो उसे संहिताओं की व्यवस्था का उल्लंघन माना जाता है। वर्णाश्रम व्यवस्था ऐसे किसी भी संवाद के लिए तैयार नहीं है, जिसमें जाति की व्यवस्था बदल जाए। वर्णाश्रम व्यवस्था में देवलोक का रास्ता, बिना ब्राह्मण के माध्यम से संभव नहीं है। जो उस व्यवस्था को बाईपास करेगा, उसकी बात एक क्षण भी सुनी नहीं जाएगी। इस स्थिति में शम्बूक का वध सिर्फ इसलिए कि किसी ब्राह्मण के बेटे की अकाल मृत्यु हो गई थी। जिसके लिए किसी न किसी को दोषी ठहराना था और वह दोषी समाज के एक सबसे कमजोर तबके के व्यक्ति को ठहराया गया। शम्बूक की मृत्यु से ब्राह्मण के बेटे को पुनर्जीवन मिल जाता है। इस तरह की कल्पना दुनिया भर की सभ्यताओं में देखने को मिलती है। जहाँ उच्च तबके के व्यक्ति के लिए निचले तबके के व्यक्ति की हत्या, उच्च तबके के लिए पोषक तत्व का काम करती है। इससे मिलती जुलती बात के लिए 'सेपियंस' पुस्तक का ऐतिहासिक उदाहरण देख

सकते हैं। जिसके लेखक 'युवाल नोआ हरारी' ने इस बात का जिक्र करते हुए लिखा है कि- "1776 ईसवी पूर्व में बेबीलोन दुनिया का सबसे बड़ा नगर था। वहाँ एक शिलालेख प्राप्त हुआ था।" जिस पर राजा हम्मूराबी की विधि संहिता अंकित है। "संहिता के मुताबिक, लोग दो लिंगो और तीन वर्गों में विभाजित हैं: श्रेष्ठ जन, सामान्य जन और गुलाम। प्रत्येक लिंग और वर्ग का अलग-अलग मूल्य है। एक सामान्य वर्ग की स्त्री के जीवन का मूल्य चाँदी के तीस सिक्कों के बराबर है और गुलाम स्त्री के जीवन का मूल्य चाँदी के बीस सिक्कों के बराबर है, वहीं सामान्य वर्ग के पुरुष की आँख का मूल्य चाँदी के साठ सिक्कों के बराबर है। संहिता परिवारों के भीतर भी एक सख्त क्रम निर्धारण करती है। जिसके मुताबिक बच्चे स्वतंत्र व्यक्ति नहीं है, बल्कि अभिभावकों की संपत्ति है। इसलिए अगर एक श्रेष्ठ जन किसी दूसरे श्रेष्ठ जन की बेटी की हत्या कर देता है, तो सजा के तौर पर हत्यारे की बेटी को मार दिया जाएगा। यह बात हमें विचित्र जान पड़ेगी कि हत्यारे को कोई नुकसान नहीं पहुँचाता, जबकि उसकी निर्दोष बच्ची को मार दिया जाता है, लेकिन हम्मूराबी और बेबीलोन वासियों के लिए सर्वथा न्यायसंगत चीज प्रतीत होती है।" वहीं अगर कोई श्रेष्ठ जन, किसी सामान्य जन को अंधा कर दे या किसी सामान्य जन की हड्डी तोड़ दे तो उसका मूल्य आंका जाएगा और उसको चाँदी के साठ सिक्के देने होंगे। (सेपियंस, पृ. 118 से 121)

सामाजिक मूल्यों का निर्धारण कई सभ्यताओं के भीतर, ईश्वर के दूत के रूप में राजा, विधि के नियमों का संचालन अपने विचारों पर आधारित न्याय से करता है। जिसमें उसके अनुसार वह(राजा) बेहतर विकल्प प्रस्तुत कर रहा है। जबकि ऐसा होता नहीं है। उसमें समानता की अवधारणा एकांगी होती है। कुछ ऐसा ही वाल्मीकि के राम में नजर आता है। जहाँ विशिष्ट जन के लिए सामान्य जन की हत्या उचित प्रतीत होता है। यह उस समय के समाज के विधान और मानसिकता को दर्शाता है।

इन प्रसंगों के अलावा चाहे वाल्मीकि हों या तुलसी, जाति में **ब्राह्मणत्व** की विशेषता का भाव छोड़ नहीं पाते हैं:

"सत्यं च धर्मे च पराक्रमं च भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ।। ३१ ।।

सत्य, धर्म, पराक्रम, समस्त प्राणियों पर दया, सबसे प्रिय वचन बोलना तथा देवताओं, अतिथियों और ब्राह्मणों की पूजा करना-इन सबको साधु पुरुषों ने स्वर्गलोक का मार्ग बताया है ।। ३१ ।।" (वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, पृ. 468)

"प्रणम्य शिरसा नित्यं श्रोतव्यं क्षत्रियैर्द्विजात् ।
ऐश्वर्यं पुत्रलाभश्च भविष्यति न संशयः ।। ११८ ।।

क्षत्रियों को चाहिये कि वे प्रतिदिन मस्तक झुकाकर प्रणाम करके ब्राह्मण के मुख से इस ग्रन्थ का श्रवण करें। इससे उन्हें ऐश्वर्य और पुत्र की प्राप्ति होगी, इसमें संशय नहीं है ।। ११८ ।।" (वाल्मीकि रामायण, युद्ध कांड, पृ. 1452)

तुलसी बहुत कुछ वाल्मीकि रामायण की तुलना में अपना पाठ बदल देते हैं। पर ब्राह्मणवादी विचार को छोड़ नहीं पाते हैं -

कबंध और राम का संवाद :

"दुरबासा मोहि दीन्ही सापा । प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा ।।
सुनु गंधर्व कहउँ मैं तोही । मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही ।।

[वह बोला-] दुर्वासाजी ने मुझे शाप दिया था। अब प्रभु के चरणों को देखने से वह पाप मिट गया।

[श्रीरामजीने कहा–हे

गन्धर्व ! सुनो, में तुम्हें कहता हूँ, ब्राह्मण-कुल से द्रोह करने वाला मुझे नहीं सुहाता ।। ४ ।।"

"मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव ।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव ।। ३३ ।।

मन, वचन और कर्म से कपट छोड़कर जो भूदेव ब्राह्मणों की सेवा करता है, मुझ- समेत ब्रह्मा, शिव आदि सब देवता उसके वश में हो जाते हैं ।। ३३ ।।"

"सापत ताड़त परुष कहंता । बिप्र पूज्य अस गावहिं संता ।।
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना । सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना ।।

शाप देता हुआ, मारता हुआ और कठोर वचन कहता हुआ भी ब्राह्मण पूजनीय है, ऐसा संत कहते हैं। शील और गुण से हीन भी ब्राह्मण पूजनीय है। और गुणगणों से युक्त और ज्ञान में निपुण भी शूद्र पूजनीय नहीं है ।। १।।" (रामचरितमानस, अरण्यकांड, पृ. 664)

"बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार । निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ।। १६२ ।।

ब्राह्मण, गौ, देवता और संतों के लिये भगवान् ने मनुष्य का अवतार लिया। वे [अज्ञानमयी, मलिना ] माया और उसके गुण (सत्, रज, तम) और [बाहरी तथा भीतरी] इन्द्रियों से परे हैं। उनका [दिव्य] शरीर अपनी इच्छा से ही बना है [किसी कर्मबन्धन से परवश होकर त्रिगुणात्मक भौतिक पदार्थों के द्वारा नहीं] ।। १६२ ।।" (रामचरितमानस, बालकांड, पृ. 183)

तुलसी, ब्राह्मणवाद के वैशिष्ट्य को छोड़ नहीं पाते हैं। जबकि तुलसीदास से पहले कबीर, रैदास आदि संत कवियों ने जातिविहीन समाज और समन्वयात्मक समाज की कल्पना की थी। तुलसी को इसकी जानकारी तो रही होगी। तुलसीदास अपनी जाति की महिमामंडन के मोह को छोड़ नहीं पाते हैं। लेकिन जाति के मामले में उनकी रचना, निर्गुण संतों की तरह प्रतिरोध नहीं कर पाती है। जातीय श्रेष्ठता की सीमा, तुलसी के रामराज्य की परिकल्पना में हावी है।

वहीं दूसरी और ज्यादातर समाज के प्रसिद्ध और व्यापक मानसिकता में वाल्मीकि को नीची जाति का समझा जाता है। जबकि **वाल्मीकि ब्राह्मण थे**। अध्यात्मरामायण के उत्तरकांड में वाल्मीकि श्रीराम को विश्वास दिलाते हुए कि लव-कुश उनके ही पुत्र हैं, बताते हुए कहते हैं -

"सुतौ तु तव दुर्धर्षौ तथ्यमेतद्ब्रवीमि ते । प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो रघुकुलोद्वह ।। ३१ ।।
अनृतं न स्मराम्युक्तं तथेमौ तव पुत्रकौ । बहून्वर्षगणान् सम्यक्तपश्चर्या मया कृता ।। ३२ ।।

मैं सच कहता हूँ, ये दोनों दुर्जय वीर आप- ही की संतान हैं। हे राघव ! मैं प्रजापति प्रचेता का दसवाँ पुत्र हूँ ।। ३१ ।। मैंने कभी मिथ्या भाषण किया हो-ऐसा मुझे स्मरण नहीं है; वही मैं आपसे कहता हूँ कि ये बालक आपही के पुत्र हैं। मैंने अनेकों वर्ष तक खूब तपस्या की है ।। ३२ ।।" (पृ. -381-382)

वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में :

"एतदाख्यानमायुष्यं सभविष्यं सहोत्तरम् । कृतवान् प्रचेतसः पुत्रस्तद् ब्रह्माप्यन्वमन्यत ।। ११ ।।

प्रचेता के पुत्र महर्षि वाल्मीकिजी ने अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति के बाद की कथा एवं उत्तरकाण्ड सहित रामायण नामक इस ऐतिहासिक काव्य का निर्माण किया है। ब्रह्माजी ने भी इसका अनुमोदन किया था ।। ११।।" (पृ. 1679)

"प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन । न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ ।। १९ ।।

रघुकुलनन्दन ! मैं प्रचेता (वरुण) का दसवाँ पुत्र हूँ। मेरे मुँह से कभी झूठ बात निकली हो, इसकी याद मुझे नहीं है। मैं सत्य कहता हूँ ये दोनों आपके ही पुत्र हैं ।। १९ ।।" (पृ. 1656)

मनु स्मृति में :

"मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् । प्रचेतसं वशिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ।। ३५ ।।

मैंने प्रजासृष्टि की इच्छा से कठिन तप करके पहले दश महर्षियों को उत्पन्न किया । उनके नाम इस प्रकार हैं- मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु, प्रचेतस, वशिष्ठ, भृगु और नारद ।। ३५ ।।" (पहला अध्याय, पृ. 8)

प्रचेता ब्राह्मण थे तो उनके पुत्र वाल्मीकि भी ब्राह्मण हुए। रामायण के वाल्मीकि को दलित समाज से जोड़ा जाना, किसी जमाने में आर्य समाजियों के धर्म बचाओ आंदोलन के तहत कार्यक्रम का एक प्रयोजन मात्र था। "1925 से पहले हमें वाल्मीकि शब्द नहीं मिलता। सफाई कर्मचारियों और चूहडों को हिंदू फोल्ड में बनाये रखने के उद्देश्य से उन्हें वाल्मीकि से जोड़ने और वाल्मीकि नाम देने की योजना बीस के दशक में आर्य समाज ने बनाई थी। इस काम को जिस आर्य समाजी पंडित ने अंजाम दिया था, उसका नाम अमीचंद शर्मा था। यह वही समय है, जब पूरे देश में दलित मुक्ति के आन्दोलन चल रहे थे। महाराष्ट्र में डॉ. आंबेडकर का हिंदू व्यवस्था के खिलाफ सत्याग्रह, उत्तर भारत में स्वामी अछूतानन्द का आदि हिंदू आन्दोलन और पंजाब में मंगूराम मुगोवालिया का आदधर्म आन्दोलन उस समय अपने चरम पर थे। पंजाब में दलित जातियाँ बहुत तेजी से आदधर्म स्वीकार कर रही थीं। आर्य समाज ने इसी क्रांति को रोकने के लिए अमीचंद शर्मा को काम पर लगाया। योजना के तहत अमीचंद शर्मा ने सफाई कर्मचारियों के महल्लों में आना-जाना शुरू किया। उनकी कुछ समस्याओं को लेकर काम करना शुरू किया। शीघ्र ही वह उनके बीच घुल-मिल गया और उनका नेता बन गया। उसने उन्हें डॉ. आंबेडकर, अछूतानन्द और मंगूराम के आंदोलनों के खिलाफ भड़काना शुरू किया। वे अनपढ़ और गरीब लोग उसके जाल में फंस गए। 1925 में अमीचंद शर्मा ने 'श्री वाल्मीकि प्रकाश' नाम की किताब लिखी, जिसमें उसने वाल्मीकि को उनका गुरु बताया और उन्हें वाल्मीकि का धर्म अपनाने को कहा। उसने उनके सामने वाल्मीकि धर्म की रूपरेखा भी रखी। डॉ. ˘ आंबेडकर, अछूतानन्द और मंगूराम के आन्दोलन दलित जातियों को गंदे पेशे छोड़ कर स्वाभिमान के साथ साफ-सुथरे पेशे अपनाने को कहते थे। इन आंदोलनों के प्रभाव में आकर तमाम दलित जातियां गंदे पेशे छोड़ रही थीं। इस परिवर्तन से ब्राह्मण बहुत परेशान थे। उनकी चिंता यह थी कि अगर सफाई करने वाले दलितों ने मैला उठाने का काम छोड़ दिया, तो ब्राह्मणो के घर नर्क बन जायेंगे। इसलिए अमीचंद शर्मा ने वाल्मीकि धर्म खड़ा करके सफाईकर्मी समुदाय को 'वाल्मीकि समुदाय' बना दिया।" (https://bheemsangh.wordpress.com)

यह सब सिर्फ इसलिए ताकि दलित समाज किसी और धर्म का हिस्सा न बन जाए। जिस प्रकार से वाल्मीकि रामायण में ब्राह्मणत्व का भाव और संस्कृति हावी है। ऐसे में वाल्मीकि को दलित मानना गलती होगी।

जाति के संदर्भ में एक और प्रकरण है, जहाँ समुद्र द्वारा राम को **जातीय वैमनस्यता** से उकसाने का प्रसंग आता है-

"उग्रदर्शनकर्माणो बहवस्तत्र दस्यवः । आभीरप्रमुखाः पापाः पिबन्ति सलिलं मम ।। ३३ ।।

वहाँ आभीर आदि जातियों के बहुत-से मनुष्य निवास करते हैं, जिनके रूप और कर्म बड़े ही भयानक हैं। वे सब- के-सब पापी और लुटेरे हैं। वे लोग मेरा जल पीते हैं ।। ३३ ।।"

"तैर्न तत्स्पर्शनं पापं सहेयं पापकर्मभिः । अमोघः क्रियतां राम अयं तत्र शरोत्तमः ।। ३४ ।।

उन पापाचारियों का स्पर्श मुझे प्राप्त होता रहता है, इस पाप को मैं नहीं सह सकता श्रीराम आप अपने इस उत्तम बाद को वहीं सफल कीजिए।"

"तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सागरस्य महात्मनः । मुमोच तं शरं दीप्तं परं सागरदर्शनात् ।। ३५ ।।

महामना समुद्र का यह वचन सुनकर सागर के दिखाये अनुसार उसी देश में श्रीरामचन्द्रजी ने वह अत्यन्त प्रज्वलित बाण छोड़ दिया ।। ३५।।" (वाल्मीकि रामायण, युद्ध कांड, पृ. 1105- 1106)

यही प्रसंग रामचरितमानस से :

"प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरी कीन्ही ।।
ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ।।

प्रभु ने अच्छा किया जो मुझे शिक्षा (दण्ड) दी। किंतु मर्यादा (जीवों का स्वभाव) भी आपकी ही बनायी हुई है। ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और स्त्री-ये सब दण्ड के अधिकारी हैं ।। ३ ।।" (रामचरितमानस, सुंदरकांड, पृ. 769)

समुद्र यहाँ जातिगत बातें कर रहा है। साथ ही जल की पवित्रता को जाति से जोड़कर, राम को उकसाता है। राम, समुद्र की बातों को मानते हुए उस स्थान को नष्ट करते हैं। लेकिन वहीं रामचरितमानस में जो समुद्र द्वारा जातीय द्वेष का कथन आता है। जिसके लिए अक्सर तुलसीदास को आरोपी बनाया जाता है। लेकिन यह कथन समुद्र का है, जिसके विचार को तुलसीदास दर्शाते हैं। जहाँ राम कोई प्रतिक्रिया नहीं देते हैं। तुलसीदास अगर राम के मुख से यहाँ, समुद्र के जातिपरक विचारों का खंडन करवाते, तो उनका रामचरितमानस सच में लोकतंत्र के संवैधानिक रूप को, रामराज्य के रूप में मजबूती के साथ कल्पित कर पाता। वैसे तुलसीदास ने राम के चरित्र को काफी हद तक लोकतांत्रिक बनाने की कोशिश की है। लेकिन उनका साहस कुछ विषयों पर खुलकर अभिव्यक्त नहीं हो पाता है।

रामायण का अगला प्रसंग अमिताभ बच्चन के दीवार फिल्म की तरह है। जिसमें एक नास्तिक, ईश्वर के आगे झुक कर, अंततः आस्तिक बन जाता है। **नास्तिक और आस्तिक** किसी समय में वेद विरोधियों के लिए इस्तेमाल होता था। जो आगे चलकर ईश्वर विरोधी रूप में स्थापित हो गया। जो मूलतः अनिश्वरवादी और भौतिक दर्शन के अनुयायियों के लिए इस्तेमाल हुआ था। एक अच्छे इंसान के लिए आस्तिकता को उसकी कसौटी के रूप में अक्सर हमारा समाज प्रेरित और प्रस्तुत करता है या आदर्शवाद का नमूना बनाकर लाता है। नास्तिकता को अक्सर हमारे समाज के बड़े तबके में, अपराधी भाव से देखा जाता है। जिसमें अपवाद स्वरूप बुद्ध ,भगत सिंह जैसे महान लोग आते हैं। हमारे समाज की परंपरागत सांस्कृतिक मिथकीय अवधारणा, ऐसे ही रचनाओं से निर्मित हुई है। इसका उदाहरण हम इस प्रकार से देख सकते हैं, जो जाबाली के संदर्भ में आया है। जाबाली और श्रीराम का संवाद, जिसमें जाबाली की नास्तिकता खंडित होकर आस्तिकता में परिवर्तित हो जाती है:

"निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः । मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ।। ३ ।।

जो पुरुष धर्म अथवा वेद की मर्यादा को त्याग देता है, वह पाप कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। उसके आचार और विचार दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं; इसलिये वह सत्पुरुषों में कभी सम्मान नहीं पाता है ।। ३ ।।"

"कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् । चारित्रमेव व्याख्याति शुचि वा यदि वाशुचिम् ।। ४ ।।

आचार ही यह बताता है कि कौन पुरुष उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ है और कौन अधम कुल में, कौन वीर है और कौन व्यर्थ ही अपने को पुरुष मानता है तथा कौन पवित्र है और कौन अपवित्र ? ।। ४ ।।"

"अनार्यस्त्वार्य संस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः। लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानेव ।। ५ ।।

आपने जो आचार बनाया है, उसे अपनाने वाला पुरुष श्रेष्ठ-सा दिखायी देने पर भी वास्तव में अनार्य होगा। बाहर से पवित्र दीखने पर भी भीतर से अपवित्र होगा । उत्तम लक्षणों-से युक्त-सा प्रतीत होने पर भी वास्तव में उसके विपरीत होगा तथा शीलवान्-सा दीखने पर भी वस्तुतः वह दुःशील ही होगा।।" (वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, पृ. 466)

"निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद् यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम् ।
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ।। ३३ ।।

आपकी बुद्धि विषम मार्ग में स्थित है- आपने वेद- विरुद्ध मार्ग का आश्रय ले रखा है। आप घोर नास्तिक और धर्म के रास्ते से कोसों दूर हैं । ऐसी पाखण्डमयी बुद्धि के द्वारा अनुचित विचार का प्रचार करने वाले आपको मेरे पिताजी ने जो अपना याजक बना लिया, उनके इस कार्य की मैं निन्दा करता हूँ ।। ३३ ।।" (वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, पृ. 468)

इसलिए वाल्मीकि रामायण में **बौद्ध धर्मावलंबियों और नास्तिकों** को बुरा भला कहा गया है। इससे यह भी साबित होता है की ब्राह्मण धर्म में कट्टर मान्यता रखने वाले लोग, भौतिकवादी दर्शन को मानने वाले लोगों से परेशान थे। यह उस समय के सामाजिक ढांचे को भी दिखाता है। जिसमें आगे चलकर मौर्य साम्राज्य का पतन और उसके बाद ब्राह्मण धर्म के उदय से इस तरह की रचनाओं के माध्यम से वाल्मीकि और उनकी तरह अन्य रचनाकार, समाज को विभाजित कर, शोषण का एक पिरामिड बनाते हैं। इससे यह भी मालूम होता है कि, वाल्मीकि रामायण की रचना, ब्राह्मण धर्म के उदय के बाद हुई है। भौतिकवादी दर्शन का ह्रास, शक्ति के दम पर कर दिया जाता है:

"यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध- स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि ।
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां स नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात् ।। ३४ ।।

जैसे चोर दण्डनीय होता है, उसी प्रकार (वेदविरोधी) बुद्ध (बौद्धमतावलम्बी) भी दण्डनीय है। तथागत (नास्तिक विशेष) और नास्तिक (चार्वाक) को भी यहाँ इसी कोटि में समझना चाहिये। इसलिये प्रजा पर अनुग्रह करने के लिये राजा द्वारा जिस नास्तिक को दण्ड दिलाया जा सके, उसे तो चोर के समान दण्ड दिलाया ही जाय; परंतु जो वश के बाहर हो, उस नास्तिक के प्रति विद्वान ब्राह्मण कभी उन्मुख ना हो उससे वार्तालाप तक ना करें।" (वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, पृ. 468 - 469)

**आर्य-अनार्य के पाठ से इतिहास का विश्लेषण :**

जाबाली और राम के संवाद से :

"अनार्यस्त्वार्य संस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः। लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानेव ।। ५ ।।

आपने जो आचार बनाया है, उसे अपनाने वाला पुरुष श्रेष्ठ-सा दिखायी देने पर भी वास्तव में अनार्य होगा। बाहर से पवित्र दीखने पर भी भीतर से अपवित्र होगा । उत्तम लक्षणों-से युक्त-सा प्रतीत होने पर भी वास्तव में उसके विपरीत होगा तथा शीलवान्-सा दीखने पर भी वस्तुतः वह दुःशील ही होगा।।" (वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, पृ. 466)

यानी अनार्यों की स्थिति किसी भी हाल में, किसी भी प्रकार की खूबियों से युक्त होने के बावजूद आर्यों से ऊपर नहीं माना जाएगा। यह विचार जाबाली के द्वारा राम की प्रशंसा में कहा गया है। इसके बाद अरण्यकांड में **शूर्पणखा का प्रसंग** आता है।

शूर्पणखा काम से मोहित होकर जब राम के पास जाती है तो राम अपने छोटे भाई लक्ष्मण के गुणों का

वर्णन करके शूर्पणखा को उन्हें अपना पति बनाने की सलाह देते हैं। राम के कहने पर शूर्पणखा लक्ष्मण के पास चली जाती है और स्वयं को लक्ष्मण से पत्नी के रूप में स्वीकार करने के लिए कहती है। इसके बाद लक्ष्मण, शूर्पणखा से कहते हैं कि मैं तो अपने भगवान के समान अपने बड़े भाई श्रीराम के अधीन हूँ। तुम मेरी स्त्री होकर दासी क्यों बनना चाहती हो? इससे बेहतर है कि तुम मेरे बड़े भाई की छोटी स्त्री हो जाओ और लक्ष्मण कहते हैं :

"एतां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् । भार्या वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति ।। ११ ।।

कुरूप, ओछी, विकृत, धँसे हुए पेटवाली और वृद्धा भार्या को त्यागकर ये तुम्हें ही सादर ग्रहण करेंगे।।"

"को हि रूपमिदं श्रेष्ठं संत्यज्य वरवर्णिनि । मानुषीषु वरारोहे कुर्याद् भावं विचक्षणः ।। १२ ।।

सुन्दर कटिप्रदेश वाली वर वर्णिनि ! कौन ऐसा बुद्धि-मान् मनुष्य होगा, जो तुम्हारे इस श्रेष्ठ रूप को छोड़कर मानव-कन्याओं से प्रेम करेगा ११ ।। १२ ।।"

"इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी । मन्यते तद् वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा ।। १३ ।।

लक्ष्मण के इस प्रकार कहने पर परिहास को न समझने-वाली उस लंबे पेटवाली विकराल राक्षसी ने उनकी बात को सच्ची माना ।। १३ ।।" (वाल्मीकि रामायण, अरण्यकांड, पृ. 534)

"क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथंचन । न कार्यः पश्य वैदेहीं कथंचित् सौम्य जीवतीम् ।। १९ ।।

सुमित्रानन्दन ! क्रूर कर्म करने वाले अनार्यों से किसी प्रकार का परिहास भी नहीं करना चाहिये । सौम्य! देखो न, इस समय सीता के प्राण किसी प्रकार बड़ी मुश्किल से बचे हैं।" (वाल्मीकि रामायण, अरण्यकांड, पृ. 535)

इसके तुरंत बाद राम, लक्ष्मण से कहते हैं कि पुरुष सिंह तुम्हें इस कुलटा अत्यंत मतवाली और लंबे पेट वाली राक्षसी को कुरूप- किसी अंग से हीन कर देना चाहिये। इस प्रकार का आदेश पाते ही लक्ष्मण ने अपनी तलवार से शूर्पणखा के नाक-कान काट दिए।

लगभग कुछ इसी तरह का लेकिन इससे कम कठोर भाषा में इस प्रश्न को तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में दोहराया है:

"पुनि फिरि राम निकट सो आई । प्रभु लछिमन पहिं बहुरि पठाई ।।
लछिमन कहा तोहि सो बरई । जो तृन तोरि लाज परिहरई ।।

वह लौटकर फिर श्रीरामजी के पास आयी। प्रभु ने उसे फिर लक्ष्मणजी के पास भेज दिया। लक्ष्मणजी ने कहा-तुम्हें वही वरेगा जो लज्जा को तृण तोड़कर (अर्थात् प्रतिज्ञा करके) त्याग देगा (अर्थात् जो निपट निर्लज्ज होगा )।" (रामचरितमानस, अरण्यकांड, पृ. 640, 641)

वाल्मीकि रामायण में शूर्पणखा से संबंधित प्रसंग, आर्य-अनार्य की तात्कालिक सामाजिक और मनःस्थिति को साफ-साफ स्पष्ट करता है, अपेक्षाकृत तुलसी के रामचरितमानस के। रूप-रंग में अनार्यों की छवि वाल्मीकि रामायण में शूर्पणखा के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। जो एक प्रकार की नस्लीय भेदभाव की मानसिकता को दर्शाता है। जिसकी वजह से गौर वर्ण और अक्सर शादी विवाह में जोड़ों को, राम और सीता की तरह देखने की मानसिकता बनती चली गई। जहाँ हिंदू देवी-देवताओं की तरह सुंदर और गौर वर्ण के जोड़े अक्सर प्रतीकात्मक रूप में मिथकों द्वारा स्थापित किया जाता रहा है। अभिजात्यता का एक स्वरूप रुपयों-पैसों के अलावा शारीरिक बनावट और उसके रंग को सौंदर्य की श्रेष्ठता से जोड़कर हमारे समाज में स्थापित किया गया है। दुनियां में भी किसी न किसी दौर में कुछ ऐसा ही रहा है और हमारे यहाँ भी। इस पूरे प्रसंग में मानो शूर्पणखा

एक मजाक का पात्र बन जाती है। वह, राम और लक्ष्मण के बीच किसी पेंडुलम की तरह झूलती रहती है। ऐसे में उसकी दशा हास्यास्पद तो है ही, लेकिन दूसरे नजरिए से उसके प्रेम का या आकर्षण का मजाक बनाया गया है। शूर्पणखा के रूप-रंग की वजह से, उसका परिहास; एक प्रकार की मानसिक क्रूरता भी है, जिसको उचित ठहराया गया है।

तुलसीदास ने यह कोशिश जरूर की है कि शूर्पणखा को आर्य-अनार्य की लड़ाई न बनाकर, उसे एक बुरी स्त्री के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है। लेकिन राम और लक्ष्मण का भी यहाँ वाल्मीकि रामायण की तरह एक दूसरे के पास विवाह के लिए भेजना, तुलसीदास के राम के व्यक्तित्व के अनुकूल प्रतीत नहीं होता है। तुलसीदास एक लेखक के तौर पर रामायण का पुनर्पाठ करते हैं। जिसमें राम के व्यक्तित्व का निर्माण, सर्वव्यापी बनाने की कोशिश करते हैं। इसके बावजूद कई स्थानों पर उनके पूर्वाग्रह आ जाते हैं।

**विभीषण की वैदिक संस्कृति बनाम रावण की राक्षसी संस्कृति :**

वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में रावण के जन्म का प्रसंग है। जिसमें यह मालूम चलता है कि राक्षस सुमाली की पुत्री कैकसी के पुत्र रावण हुए। सुमाली ने जब धनेश्वर कुबेर को पुष्पक विमान द्वारा अपने पिता विश्रवा का दर्शन करने के लिए जाते हुए देखा तो वह बहुत विस्मित हो गए। देवताओं के गौर वर्ण की चमक और वैविध्य को देखकर सुमाली सोचने लगा कि हम राक्षसों का भला कैसे होगा? ऐसे में वह अपनी बेटी के वंश को कुबेर जैसा बनने के लिए मुनिवर विश्रवा से पुत्र प्राप्ति के लिए कहते हैं और इसी मुनि विश्रवा और कैकसी के संबंध से रावण उर्फ दशग्रीव जो शुरुआती नाम था, कुम्भकर्ण, शूर्पणखा और विभीषण का जन्म होता है। इससे यह तो पता चलता है कि शंकर वर्ण का एक नजरिया उस दौर में मौजूद था और रावण आधा राक्षस और आधा ब्राह्मण था। लक्ष्मण द्वारा रावण से मृत्युशैया पर ज्ञान लेने का प्रसंग वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस में तो नहीं मिलता है। शायद किसी और रामायण में हो! वाल्मीकि के रामायण में रावण को जो शक्ति प्राप्त होती है वह ब्राह्मण- अंश के बगैर संभव नहीं था। संभवत: कथा के विकास और उसको फलीभूत करने के लिए, इस तरह के दोहरे मानदंड रखकर, रावण की शक्ति को राक्षसों के ऊपर, ब्राह्मणों के शक्ति भाव को भारी तरीके से दिखाने का प्रयास आगे के और रामायणों में किया जाता रहा है। वाल्मीकि रामायण में रावण का रंग "कोयले के पहाड़ जैसा काला था"। यह पूरा प्रसंग बड़ी विचित्र स्थिति पैदा करता है जब ऋषि विश्रवा, कैकसी से यह कहते हैं कि,

"पश्चिमो यस्तव सुतो भविष्यति शुभानने । मम वंशानुरूप: स धर्मात्मा च न संशय: ।। २७ ।।

शुभानने ! तुम्हारा जो सबसे छोटा एवं अन्तिम पुत्र होगा, वह मेरे वंश के अनुरूप धर्मात्मा होगा; इसमें संशय नहीं है ।। २७ ।।" (वाल्मीकि रामायण, उत्तरकांड, पृ. 1477)

यानी विभीषण को मूल रूप से ब्राह्मण विश्रवा अपना वंश घोषित करते हैं। इस पूरे संदर्भ को देखें तो, इसको इस तरीके से भी देखा जा सकता है कि अनार्य और आर्यों के बीच अगर किसी तरह के संबंध निर्मित हो भी रहे थे और उनकी शक्ति आर्यों के समान ही थी। तो भी जाबाली के कहे कथन के अनुसार (देखें- नास्तिक और आस्तिक प्रसंग, श्लोक-५) वह आर्य से ऊपर नहीं हो सकते हैं। इस स्थिति में वाल्मीकि, विभीषण के माध्यम से आर्यों की उस वैचारिक जीत को दिखाते हैं, जिसमें राक्षस संस्कृति के ऊपर वैदिक संस्कृति जीत जाती है। यानी राक्षस वंश से उत्पन्न व्यक्ति जब वैदिक परंपरा से पोषित होगा तब शायद शंकर नस्ल वाले लोगों के लिए एक यथोचित स्थान समाज में प्राप्त हो पाएगा।

**वर्णाश्रम व्यवस्था** की यथास्थिति को पुष्ट किया गया है। कई बार मनुष्य को गलत विचारों के प्रति भी प्रेम और आदर्श पैदा करने के लिए प्रेरित किया जाता है। जैसे किसी स्त्री के लिए बुर्का या घूंघट की प्रथा

को उसकी संस्कृति, आदर्श और प्रेम से जोड़ा जाता है। जो बड़ों के सम्मान और शर्म- हया के साथ जोड़कर देखा जाता है। मूल रूप से यह गलत और गैर बराबरी का विचार है। लेकिन इसका आदर्शीकरण इस प्रकार से किया गया है, जो संस्कृति के संस्कारों के अनुकूल है और इसका उल्लंघन संस्कृति के खिलाफ होना माना जाता है। कुछ इसी तरह से वाल्मीकि रामायण में भी वर्णव्यवस्था को समाज के अनुकूल माना गया और उसकी सहजता को, प्रतिष्ठित करने की कोशिश की गई है-

"ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः । स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कमीभः ।। १०४ ।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र - चारों वर्णों के लोग लोभ रहित होते थे। सबको अपने ही वर्णाश्रमोचित कर्मों से संतोष था और सभी उन्हीं के पालन में लगे रहते थे ।। १०४ ।।" (वाल्मीकि रामायण, युद्ध कांड, पृ. 1451)

तुलसीदास सीधे-सीधे सैद्धांतिक तौर पर वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना तो नहीं करते हैं लेकिन ब्राह्मणत्व के भाव को ऊपर रखने की वजह से, वर्णाश्रम व्यवस्था के व्यावहारिक रूप को कायम रखते हैं। हम यह कह सकते हैं कि तुलसीदास वर्णाश्रम व्यवस्था पर अपनी मौन स्वीकृति प्रदान करते हैं। क्योंकि महाकाव्य के नायकत्व में जो जातीय गुण होने चाहिए वह यहाँ भी मौजूद है और कोई भी बड़ा सवाल जाति भेद को तोड़ने के लिए तुलसीदास स्पष्ट रूप से नहीं रखते हैं। एक दीन भाव के साथ निम्न जातियों का संबंध राम के साथ नजर आता है, जो वर्णाश्रम का एक सॉफ्ट मॉडल हम कह सकते हैं।

### ऐतिहासिकता का अभाव

किसी भी साहित्यिक रचना की कथा को बगैर किसी ठोस तार्किक ऐतिहासिक प्रमाण के बिना, सत्य मानना या मनवाने की कोशिश करना, आधुनिक समाज के लिए ठीक नहीं है। वैज्ञानिकता से परे जाकर भक्ति भाव के अतिरेक में हम काल और समय से सबको धकेलकर, जिस तरह की मानसिकता का निर्माण कर देते हैं; वह समाज आगे जाने की बजाय, पीछे जाते हुए ठहर जाता है। यह ठहराव मानसिकता का है। भौतिक आधुनिकता से समाज का एकांगिक विकास होता है। मानसिक आधुनिकता उससे भी ज्यादा जरूरी है। इसलिए वाल्मीकि रामायण में भी एक भक्त के रूप में वाल्मीकि का जो भाव नजर आता है, वह कुछ इस तरह से है, जैसे रासो काव्य और रीतिकाल में कोई कवि अपने सामंत/राजा के लिए अतिशयोक्ति पूर्ण लिखता था। हमें ऐसे साहित्य को रचनाकार के उद्देश्य और तात्कालिक समय के संदर्भ में देखना चाहिए ना कि इतिहास की तथ्यात्मकता के आधार पर,

"दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च । भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् रामो राज्यमकारयत् ।। १०६ ।।

भाइयों सहित श्रीमान् राम ने ग्यारह हजार वर्षों तक राज्य किया था ।। १०६ ।।" (वाल्मीकि रामायण, युद्ध कांड, पृ. 1451)

इसमें भक्ति के भाव का अतिरेक है। इससे यह इतिहास की तथ्यात्मक सच्चाई नहीं बन सकती है। एक पुस्तक के तौर पर इतिहास में जरूर इसका स्थान है।

इतिहास के कुछ शासक जातियों का वर्णन भी वाल्मीकि रामायण के बालकांड में तब देखने को मिलता है, जब महर्षि वशिष्ठ (ब्राह्मण) और विश्वामित्र (क्षत्रिय) के बीच युद्ध होता है। जिसमें 'गौ' ने 'पहलवों' कि सृष्टि की और फिर :

"तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सुरभिः सासृजत् तदा । तस्या हुंभारवोत्सृष्टाः पह्लवाः शतशो नृप ।। १८ ।।

राजकुमार ! उनका वह आदेश सुनकर उस गौ ने उस समय वैसा ही किया। उसके हुंकार करते ही सैकड़ों

पह्लव जाति के वीर पैदा हो गये ।। १८ ।।"

"पह्ववान् नाशयामास शस्त्रैरुच्चावचैरपि । विश्वामित्रार्दितान् दृष्ट्वा पह्ववाञ्शतशस्तदा ।। २० ।।

भूय एवासृजद् घोराञ्छकान् यवनमिश्रितान् । तैरासीत् संवृता भूमिः शकैर्यवनमिश्रितैः ।। २१ ।।

'उन्होंने छोटे-बड़े कई तरह के अस्त्रों का प्रयोग करके उन पह्लवों का संहार कर डाला। विश्वामित्र द्वारा उन सैकड़ों पह्लवों को पीड़ित एवं नष्ट हुआ देख उस समय उस शबला गौ ने पुनः यवन मिश्रित शक जाति के भयंकर वीरों को उत्पन्न किया। उन मिश्रित शकों से वहाँ की सारी पृथ्वी भर गयी ।।२०।।"

"ततोऽस्त्राणि महातेजा विश्वामित्रो मुमोच ह । तैस्ते यवनकाम्बोजा बर्बराश्चाकुलीकृताः ।। २३ ।।

तब महातेजस्वी विश्वामित्र ने उनपर बहुत-से अस्त्र छोड़े । उन अस्त्रों की चोट खाकर वे यवन, काम्बोज और बर्बर जाति के योद्धा व्याकुल हो उठे' ।। २३ ।।" (वाल्मीकि रामायण,बालकांड, पृ.-136,137)

वाल्मीकि रामायण में इस पूरे प्रसंग में ब्राह्मण को क्षत्रिय से शक्तिशाली बताया जाता है और इसके बाद 'गौ' के माध्यम से जो उत्पन्न हुए; उनमें पह्लव, यवन मिश्रित शक, काम्बोज और बर्बर जाति के योद्धा का वर्णन आता है। इतना तो तय है कि वाल्मीकि के समय यह जातियां मौजूद या आ चुकीं थी। जिससे हम रामायण के रचनाकाल का भी अंदेशा लगा सकते हैं।

**ईश्वर का भोजन : भ्रांति और सच -**

मांस-मदिरा, के संदर्भ में वाल्मीकि रामायण में कई उदाहरण देखने को मिलते हैं। भोजन की बात पर विचार किसी को गलत साबित करने के लिए नहीं है।

मदिरा की वस्तु स्थिति यह है कि, यह भारतीय संस्कृति का अभिन्न हिस्सा रही है। ईश्वर के आदर्शीकरण में हमारी भूमिका द्वंद्वात्मक रही है। एक ओर हम, शिव को नशे का सेवन करते हुए स्वीकार करते हैं और उनका महिमामंडन भी कर लेते हैं। लेकिन वहीं दूसरी तरफ कुछ अन्य देवताओं के लिए हम उसको अलग नजरिए से देखते हैं। वैदिक और गैर वैदिक देवताओं के संक्रमण की संस्कृति में वैचारिक खेमे में बंटे देवता और उसको पूजने वाले समाज का प्रभाव, समय के साथ देवताओं के रूप, रंग और भोजन लिए रूढ़ हो गया। इसलिए एक लंबी परंपरा में देवताओं के भोजन का चुनाव, अपने-अपने पूर्व के समाज और कबीलों को चिह्नित करता है। जिस पर भी समय के साथ ब्राह्मणवादी कर्मकांड का प्रभुत्व हावी होता नजर आता है :

"दक्षिणा रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशं गताः ।। २१ ।। उपानृत्यन्त काकुत्स्थं नृत्यगीनविशारदाः ।

नाचने-गाने में कुशल और चतुर बहुत-सी रूपवती स्त्रियां मधुपान जनित मद के वशीभूत हो श्रीरामचन्द्रजी के निकट अपनी नृत्य-कला का प्रदर्शन करने लगीं ।। २१ ।।"

"सीतामादाय हस्तेन मधु मैरेयकं शुचि ।। १८ ।। पाययामास काकुत्स्थः शचीमिव पुरंदरः ।।

जैसे देवराज इन्द्र शची को सुधापान कराते हैं, उसी प्रकार ककुत्स्थ कुलभूषण श्रीराम ने अपने हाथ से पवित्र पेय कृत्य करते थे और मधु लेकर सीताजी को पिलाया ।। १८ ।।"

"मांसानि च सुमृष्टानि फलानि विविधानि च ।। १९ ।। रामस्याभ्यवहारार्थं किंकरास्तूर्णमाहरन् ।

सेवकगण श्रीराम के भोजन के लिये वहाँ तुरंत ही राजोचित भोग्य पदार्थ (भाँति-भाँति की रसोई) तथा नाना प्रकार के फल ले आये ।। १९ ।।" (वाल्मीकि रामायण, उत्तर कांड, पृ. 1566)

जबकि इसकी पहली पंक्ति का अर्थ होना चाहिए "उन्होंने स्वादिष्ट मांस और विभिन्न प्रकार के फल भी परोसे।"

गीता प्रेस के वाल्मीकि रामायण में इस श्लोक की व्याख्या में 'मांसानि' शब्द का अर्थ ऐसा लगता है जानबूझकर नहीं बताया गया है। संभवत: व्याख्याकर्ता पर ईश्वर को लेकर सात्विक और निरामिष का भाव प्रभावित रहा हो। जिसकी वजह से उन्हें 'मांसानि' शब्द का अर्थ बताने में समस्या आ रही होगी। 'वैदिक कोश' के उदाहरण से हम समझ सकते हैं कि मांस शब्द का प्रयोग किसी और अर्थ में न होकर वही था जो आज भी हम समझते हैं : "मांस- मांस-भक्षण वैदिक काल में आम था; वहाँ अहिंसा अथवा पशुओं के प्रति दया का भाव कम पाया जाता है। यज्ञों में देवों को मांस की बलि दी जाती थी; अग्नि 'गो-भक्षक' : ऋ० ८. ४३. ११ अवे०, ३. २१. ६= तैसं०, १. २. १४. ७ । अतिथि के लिए महोक्ष या महाज के मारने का विधान मिलता है: शब्रा०, ३. ४. १. २; तु० शांगृसू०, २. १५. २ । अतिथिग्व का भी अर्थ "अतिथि के लिए गौ मारने वाला" किया गया है। (द्र०-दिवोदास अतिथिग्व) । प्रमुख ऋषि याज्ञवल्क्य गौ या वृषभ का अंसल (दृढ़ या मृदु) मांस खाते थे शब्रा०, ३. १. २. २१; तु०-काश्रीसू०, २. २३. २५) १ ।" (वैदिक कोश, पृ. 374)

व्यक्ति के जीवन काल में भोजन ग्रहण करने के स्वरूप में कई बदलाव आते हैं। एक लंबी परंपरा में विचारों के आदान-प्रदान से भोजन का स्वरूप, स्वाभाविक तौर पर बदलते ही रहा है और यह आगे भी जारी रहेगा। यहाँ पर यह बात महत्वपूर्ण है कि भोजन से देवत्व का क्या रिश्ता? अगर कोई रिश्ता है तो हमें प्राचीन वैदिक साहित्य को देवत्व स्वरूप मानना, विशेष तौर से जो मानते हैं, उनके लिए गलत साबित हो जाएगा। व्यक्ति के आचरण और भोजन दो अलग बात है। भोजन के चुनाव को लेकर बहस और आलोचना हो सकती है। लेकिन भोजन को आचरण और व्यक्तित्व की कसौटी मान लेना अवैज्ञानिक सोच है।

अरण्यकांड में, ब्राह्मण संन्यासी के वेश में रावण के आदर सम्मान के लिए सीता मांस प्रस्तुत करने की बात करती हैं। देखा जाए तो यह स्पष्ट होता है कि मांसाहार का चलन उस समय किसी जाति बंधन से नहीं जुड़ा हुआ था। वैसे इस बात को लेकर बहुत से प्रमाण पहले भी उपलब्ध हो चुके हैं। सवाल यह भी है कि मांसाहार करना ना करना किसी व्यक्ति के व्यवहार और विचार को तय नहीं करता है। इससे कोई अच्छा और गलत साबित नहीं होता है। बल्कि इससे हमारी संस्कृति का वह पहलू सामने आता है जिसमें मांसाहार का उपयोग सहज माना गया है:

"रुरून् गोधान् वराहांश्च हत्वाऽऽदायामिषं बहु ।। २३ ।।
स त्वं नाम च गोत्रं च कुलमाचक्ष्व तत्त्वत: ।
एकश्च दण्डकारण्ये किमर्थं चरसि द्विज ।। २४ ।।

रुरु, गोह और जंगली सूअर आदि हिंसक पशुओं का वध करके तपस्वी जनों के उपभोग में आने योग्य बहुत-सा फल-मूल लेकर वे अभी आयेंगे (उस समय आपका - विशेष सत्कार होगा) । ब्रह्मन् ! अब आप भी अपने नाम- गोत्र और कुल का ठीक-ठीक परिचय दीजिये। आप अकेले इस दण्डकारण्य में किस लिये विचरते हैं? ।। २३-२४ ।।" (वाल्मीकि रामायण, अरण्यकांड, पृ. 599)

मारीच का मृग बनना और सीता के द्वारा राम से उसकी सुंदर खाल के लिए अनुरोध करना :

"जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तम: । अजिनं नरशार्दूल रुचिरं तु भविष्यति ।। १९ ।।

पुरुषसिंह ! यदि कदाचित् यह श्रेष्ठ मृग जीते-जी पकड़ा न जा सके तो इसका चमड़ा ही बहुत सुन्दर होगा ।।"

वहीं सीता भी मरे हुए स्वर्ण मृग के चमड़े पर बैठने के लिए उसके इस्तेमाल करने की बात कहती हैं:

"निहतस्यास्य सत्त्वस्य जाम्बूनदमयत्वचि । शष्पवृस्यां विनीतायामिच्छाम्यहमुपासितुम् ।। २० ।।

घास-फूस की बनी हुई चटाई पर इस मरे हुए मृग का सुवर्णमय चमड़ा बिछाकर मैं इस पर आपके साथ

बैठना चाहती हूँ ।। २० ।।" (वाल्मीकि रामायण, अरण्यकांड, पृ. 588)

लगभग कुछ इसी तरह से रामचरितमानस में भी है :

"सत्यसंध प्रभु बधि करि एही । आनहु चर्म कहति बैदेही ।।
तब रघुपति जानत सब कारन । उठे हरषि सुर काजु सँवारन ।।

जानकीजी ने कहा हे सत्य प्रतिज्ञ प्रभो ! इसको मारकर इसका चमड़ा ला दीजिये। तब श्रीरघुनाथजी (मारीच के कपट मृग बनने का) सब कारण जानते हुए भी देवताओं का कार्य बनाने के लिये हर्षित होकर उठे। ।। ३ ।।"(रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ. 653)

रामचरितमानस की रचना तक आते-आते वैष्णव धर्म-संप्रदाय की निरामिष परंपरा का प्रभाव; एक खास जाति और वर्ग विशेष तक काफी हद तक प्रसारित होता है। जिसकी वजह से रामचरितमानस में मांसाहार सिर्फ राक्षसों का भोजन के रूप में जान पड़ता है।

**दहेज प्रथा** का वर्णन शिव-पार्वती विवाह के संदर्भ में आता है। समाज का अपना यथार्थ और मिथकों में जब इस तरह की बातों को और ज्यादा पुष्ट कर दिया जाता है तो स्वाभाविक तौर पर उसका प्रभाव पड़ता है। दहेज की बुनियाद ईश्वर के माध्यम से जब स्थापित कर दिया जाएगा तो सामान्य लोगों के लिए भी यह आदर्श बनता दिखता है। रचनाकार का अपना विचार, समाज के प्रत्येक वर्ग पर भारी पड़ जाता है। रचना की प्रसिद्धि अपने साथ अगर अच्छाई लेकर चलती है; तो भी यह कतई जरूरी नहीं कि एक प्रसिद्ध धार्मिक कथा सर्व-संपन्न और आदर्शमयी हो। आदर्श बनाने का काम वैचारिक प्रतिबद्धता से लोग अपनी सुविधा के अनुसार करते हैं। किसी रचना में जब पवित्रता का बोध होने लगता है तो उस पर सवाल उठाना स्वीकार नहीं किया जाता है। ऐसे में कई अतार्किक और गैर बराबरी की बातों को भी, पाठ द्वारा निर्मित परंपरा और संस्कृति के नाम पर स्वीकार लिया जाता है। उसपर सवाल करने की गुंजाइश नहीं छोड़ी जाती है। इसमें रचनाकार से ज्यादा जिम्मेदार वह समाज होता है जो इन चीजों को सहज भाव से स्वीकार कर लेता है :

"दासीं दास तुरग रथ नागा । धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा ।।
अन्न कनकभाजन भरि जाना । दाइज दीन्ह न जाइ बखाना ।।

दासी, दास, रथ, घोड़े, हाथी, गायें, वस्त्र और मणि आदि अनेक प्रकार की चीजें, अन्न तथा सोने के बर्तन गाड़ियों में लदवाकर दहेज में दिये, जिनका वर्णन नहीं हो सकता।"

शिवजी की शादी का वर्णन आज के प्रसंग में ज्यादा प्रासंगिक है। क्योंकि पार्वती के पिता का शिव के चरणों पर झुकना इस परंपरागत दिशा का बोध कराता है, जिसमें वर पक्ष का अभिमान और सेवा; स्त्री पक्ष की जिम्मेदारी है। बहुत सारे सामाजिक कुरीतियों को ईश्वर के माध्यम से स्थापित किया गया और उसका अनुसरण ब्राह्मणवादी कर्मकांडों ने अपनी कथाओं के माध्यम से संपन्न कराया :

"दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यो ।
का देउँ पूरनकाम संकर चरन पंकज गहि रह्यो ।।
सिवँ कृपासागर ससुर कर संतोषु सब भाँतिहिं कियो ।
पुनि गहे पद पाथोज मयनाँ प्रेम परिपूरन हियो ।।

बहुत प्रकार का दहेज देकर, फिर हाथ जोड़कर हिमाचल ने कहा है शंकर ! आप पूर्णकाम हैं, मैं आपको क्या दे सकता हूँ ? [इतना कहकर] वे शिवजी के चरण-कमल पकड़कर रह गये। तब कृपा के सागर शिवजी ने अपने ससुर का सभी प्रकार से समाधान किया। फिर प्रेम से परिपूर्ण हृदय मैनाजी ने शिवजी के चरणकमल

पकड़े" (रामचरितमानस, बालकांड, पृ. 105)

पार्वती की माँ और शिवजी की सास, स्त्री धर्म की चर्चा करते हुए स्त्रियों के लिए पुरुषवादी विचार को अभिव्यक्त करती है। पति परमेश्वर की अवधारणा ईश्वर के माध्यम से नारियों के लिए एक 'सूत्र' के रूप में कथा में पिरो दिया जाता है। वहीं दूसरी ओर तुलसीदास पार्वती की माँ के माध्यम से स्त्री के दुख और पीड़ा की झलक दर्शा देते हैं। भले ही इस तरह के विचार, रचना में न के बराबर है। लेकिन पीड़ा का एहसास अगर थोड़ा भी, उसे दौर में सामने आ रहा है तो; इससे यह जरूर अभिव्यक्त हो रहा है कि तुलसीदास के मन के किसी कोने में इसके लिए सहानुभूति है। जिसे परंपरागत समाज मानना तो नहीं चाहता, लेकिन रुदन के रूप में अभिव्यक्त कर देते हैं। स्त्री का दुख परंपरागत धारणाओं में दब कर रह जाता है:

"करेहु सदा संकर पद पूजा। नारिधरमु पति देउ न दूजा।।
बचन कहत भरे लोचन बारी। बहुरि लाइ उर लीन्हि कुमारी ।। २ ।।

हे पार्वती ! तू सदा शिवजी के चरण की पूजा करना, नारियों का यही धर्म है। उनके लिये पति ही देवता है और कोई देवता नहीं है। इस प्रकार की बातें कहते-कहते उनकी आँखों में आँसू भर आये और उन्होंने कन्या को छाती से चिपटा लिया ।। २ ।।"

वहीं स्त्री पीड़ा की झलक भी नजर आती है। लेकिन प्रभावी नहीं हो पाता है:

"कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं । पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं ।।
भै अति प्रेम बिकल महतारी । धीरजु कीन्ह कुसमय बिचारी ।। ३ ।।

[फिर बोलीं कि] विधाता ने जगत में स्त्री जाति को क्यों पैदा किया ? पराधीन को सपने में भी सुख नहीं मिलता। यों कहती हुई माता प्रेम में अत्यन्त विकल हो गयीं, परंतु कुसमय जानकर (दु:ख करने का अवसर न जानकर उन्होंने धीरज धरा)।। ३ ।।" (रामचरितमानस, बालकांड, पृ. 104, 105)

**संस्कृत साहित्य का तथाकथित पहला श्लोक :**

कथित तौर पर हिंदू साहित्य जो ब्राह्मणवादी साहित्य के रूप में समझा जाए उसमें वाल्मीकि रामायण की यह पंक्ति "मा निषाद प्रतिष्ठां..." पहला श्लोक माना गया। लेकिन क्या यह संयोगवश एक श्राप के रूप में; जो एक निम्न जाति के निषाद को दिया गया? जिसको काव्य के आदि स्वरूप का पहला और मूल रूप माना गया। लेकिन यह संयोग हो; जरूरी नहीं है। वाल्मीकि द्वारा कविता का यह प्रस्फुटन निषाद जाति के व्यक्ति को दोषी के रूप में देखता है। शिकार, अपने परिवार की आवश्यकता के लिए निषाद जाति की संस्कृति का हिस्सा रहा है। संस्कृत से पहले मौखिक प्राकृत में और शिलालेखों पर प्राकृत/पाली भाषा की बहुत सारी रचनाएं मौजूद हैं। कविता किसी शास्त्रीय शिल्प के आधार पर आश्रित नहीं है। यह आधुनिक कविता की समझ है। पहले कविता सामान्य लोगों के लिए जटिल और भाषाविद के रूप में शास्त्रीय किस्म के तकनीक पर आधारित कविता की अभिव्यक्ति बेहतरीन मानी जाती थी। शास्त्रीय पद्धति की कविता के मानक का आधार एक समय तक रहा, जिसे संत कवियों ने उस पद्धति को आज से पहले ही अस्वीकार कर दिया था। इसलिए आज वाल्मीकि रामायण में जिन पंक्तियों को लेकर, उसकी तकनीकी खूबियों के साथ उसको प्रथम श्लोक की संज्ञा दी गई। वह कविता का आधार नहीं माना जा सकता है। यह प्रतिष्ठा संस्कृत और ब्राह्मण धर्म के लिए हो सकती है। लेकिन कविता के आधुनिक विधान में इसको स्वीकार नहीं किया जा सकता है :

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत् कौश्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।। १५ ।।

निषाद ! तुझे नित्य-निरन्तर- कभी भी शान्ति न मिले; क्योंकि तूने इस क्रौञ्च के जोड़े में से एक की,

जो काम से मोहित हो रहा था, बिना किसी अपराध के ही हत्या कर डाली"

इसके समानांतर यह सवाल भी पैदा होता है कि स्वर्ण मृग की हत्या को; वाल्मीकि जिस तरीके से बहुरूपिए राक्षस वध के रूप में उसको औचित्यपूर्ण ढंग से दर्शाते हैं और साथ हीं मृग हत्या को एक न्याय संगत ढंग से प्रस्तुत करते हैं, क्या यह जीव हत्या का दोहरा मानदंड नहीं है?

"पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः। शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ।। १८ ।।

तात ! शोक से पीड़ित हुए मेरे मुख से जो वाक्य निकल पड़ा है, यह चार चरणों में आबद्ध है। इसके प्रत्येक चरण में बराबर-बराबर (यानी आठ-आठ) अक्षर हैं तथा इसे वीणा के लयपर गाया भी जा सकता है; अतः मेरा यह वचन श्लोकरूप (अर्थात् श्लोकनामक छन्दमें आबद्ध काव्यरूप या यशःस्वरूप ) होना चाहिये, अन्यथा नहीं ।। १८ ।।"

"तमुवाच ततो ब्रह्मा प्रहसन् मुनिपुङ्गवम् ।। ३० ।।
श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा ।
मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती ।। ३१ ।।

ब्रह्माजी उनकी मनःस्थिति को समझकर हँसने लगे और मुनिवर वाल्मीकि से इस प्रकार बोले- 'ब्रह्मन् ! तुम्हारे मुँह से निकला हुआ यह छन्दोबद्ध वाक्य श्लोकरूप ही होगा। इस विषय में तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये । मेरे संकल्प अथवा प्रेरणा से ही तुम्हारे मुँह से ऐसी वाणी निकली है ।। ३०-३१ ।।"

"तस्य बुद्धिरियं जाता महर्षेर्भावितात्मनः । कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम् ।। ४१ ।।

इधर शुद्ध अन्तःकरण वाले महर्षि वाल्मीकि के मन में यह विचार हुआ कि मैं ऐसे ही श्लोकों में सम्पूर्ण रामायण काव्य की रचना करूँ ।। ४१ ।।" (वाल्मीकि रामायण, बालकांड, पृ. 31, 32, 33)

एक विशेष छंद के आधार पर बना श्लोक, रामायण की रचना का तकनीकी पक्ष निर्मित करता है। क्या यह श्लोक किसी जाति विशेष को आहत किए बगैर निर्मित नहीं हो सकता था? सवाल इसका है!

कुल मिलाकर ऐसे कई उदाहरण जो वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस से उद्धृत किए गए हैं, जिसका उद्देश्य कथाओं के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सरोकारों के कुछ प्रायोजित मानसिकता से अवगत कराना था। इतिहास में कथाओं को देखने का नजरिया परिवेश और परिस्थिति के अनुकूल होता है। आज के समय में भी हम उन पुरानी कथाओं से बाहर निकलना नहीं चाहते हैं या अपनी सुविधा अनुसार उसका इस्तेमाल करना चाहते हैं। कथाओं के सकारात्मक पहलुओं को पहचान नहीं पाते और उसके नकारात्मक पहलुओं पर बात नहीं करना चाहते। काल्पनिक और गल्प साहित्य के माध्यम से जो जीवन रहस्य की बातें रखी जाती है। उससे साहित्य का योगदान और महत्व विषयगत तरीके से सही और गलत हो सकता है। जीवन-जगत के प्रतीकात्मक दर्शन पर आधारित साहित्य को जब तक वैचारिक दर्शन की समझ के लिए इस्तेमाल किया जाता है; तब तक तो वह समझ में आने वाली बात होती है। लेकिन जब काल्पनिक प्रतीकों को यथार्थ मानकर, फिर उसकी व्याख्या की जाती है तो इसके दुष्परिणाम ज्यादा कारगर और ठोस होते हैं। जो सामाजिक-राजनीतिक जीवन को प्रभावित करते हैं।

इन सभी मिले-जुले विचारों से जो विमर्श और वैचारिक समझ, आधुनिक शिक्षा के माध्यम से मिथकों और कथाओं को देखने के लिए होना चाहिए; वह आज भी हमारे समाज में बहुत शोचनीय स्थिति में है।

संदर्भ:


1. महर्षि वाल्मीकि, श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2025 (1968 ई.) द्वितीय संस्करण।
2. गोस्वामी तुलसीदास, श्रीरामचरितमानस, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2045 (1988 ई.), सत्तरवाँ संस्करण
3. महामुनि वेदव्यास, अनुवादक : मुनिलाल, अध्यात्मरामायण, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2027 (1970 ई.) पंद्रहवां संस्करण।
4. सूर्यकांत, वैदिक कोश, बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी, (1963 ई.)
5. https://bheemsangh.wordpress.com
6. युवाल नोआ हरारी, अनुवादक-मदन सोनी, सेपियन्स, मंजुल पब्लिशिंग हाउस, सातवां संस्करण (2021 ई.)
7. मनुस्मृति, अनुवादक : पण्डित गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, संस्करण (1917 ई.)


❑❑❑

आलेख

# बच्चों के गीतात्मक खेल : स्वरूप एवं शब्द

○ अरविंद कुमार✡

खेल गीतों में बच्चों की सृजनात्मक शक्ति को देखा जा सकता है, जो उनके 'आशुकवित्व' की देन है। इनमें उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं की गीतात्मक-लयात्मक संकल्पनाएँ समाहित है, जिसमें गीत, नृत्य, अभिनय, उछल-कूद, वाक्‌चातुर्य, बुद्धि-कौशल, लौकिक आचार, मनोरंजन, शिक्षा आदि का समावेश रहता है। यह गीतात्मक खेल परम्परा से संचरित होते हुए बहते नीर की तरह आगे बढ़ती रही है, जिसमें अवसर और भावना के अनुकूल आरोह-अवरोह से युक्त तत्काल स्फूर्त शब्द, सुर-धुन-लय के प्रवाह के बहते-दहते, गिरते-उठते, टकराते-बजते और विशिष्ट ध्वनि संघर्षण उत्पन्न करते हुए चलते चले आते हैं। इस लोकात्मक खेल गीतों में बच्चों की व्यापक भावनाएँ प्रदर्शित होती हैं।

खेलगीत अति लघु रूप में होते हैं, जिसमें कुछ स्वरों की आवृत्तियों के आवर्तन में लघु पंक्तियों के शब्दात्मक स्वरूप प्रकट होते हैं। इसके उद्‌गम परिवेश, प्रकृति और जैविक स्थिति पर निर्भर करती है। शरीर के संचालन यथा-मासंपेशियों के सिकुड़ने और फैलने, स्वांस के तेज होने तथा शरीर के प्रत्येक अंग को संचालित करने के लिए अनायास ही कुछ शब्दात्मक ध्वनियाँ मुख से उच्चारित हो उठती हैं। ये शब्दात्मक ध्वनि लय के झोंके के साथ मिलकर गीत की सृष्टि करती है।

खेत-खलिहान, गाछी-वृक्ष, ताल-तलैया, आँगन-फुलवाड़ी आदि स्थानों पर खेलते हुए गीत, नृत्य ऐसे सजते हैं जैसे किसी दुल्हन को पुष्पों से सजाया गया हो। कहीं उधार की वस्तु या बनावटीपन नहीं है। लगता है कि किसी यांत्रिक शक्ति से स्वत: संचालित हो रहा है। उदाहरणस्वरूप- छोटे-छोटे बच्चे बाग में खेल रहे हैं, जामुन का पका फल वृक्ष पर लगा हुआ है। बच्चों का मन जामुन खाने का हो रहा है। वे पेड़ पर नहीं चढ़ सकते, इसलिए ये गीतात्मक खेल खेलते हैं जिसमें एक दूसरे का हाथ पकड़कर गोल घेरा बनाकर एक लयात्मक वृत्त में अंग संचालन करते हुए कौआ के बच्चे से गुहार लगाते हैं कि जामुन खाने के लिए दे-

कौआ के बच्चा सिलेलिया रे
दूगो जामुन गिरा
भखों गीरइबे त मारबउ रे
दूगो पाकल गिरा।

✡ *एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत विभाग, मगध महिला कॉलेज, पटना*
*संपर्क: 'इन्द्राणी नरसिंह निवास' अघोरिया बाजार, एल.एन.टी. कॉलेज के निकट, मुजफ्फरपुर-842002.*
*मो.: 9835681230; ई-मेल: arbindkumar806@gmail.com*

उपर्युक्त गीत को जब संगीतशास्त्र के आधार पर अध्ययन करते हैं तो इसका स्वरूप इस प्रकार सामने आता है–

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सा | – | सा | सा | रे | रे | – | म |
| कौ | ऽ | आ | के | ब | च्चा | ऽ | सि |
| | | | | | | | |
| म | म | म | – | ग | – | रे | रे |
| ले | लि | या | ऽ | रे | ऽ | दू | गो |
| | | | | | | | |
| ग | रे | रे | सा | सा | – | – | – |
| जा | मु | न | गि | रा | ऽ | ऽ | ऽ |

अगली कड़ी भी उपर्युक्त धुन में ही गायी जाती है। इस धुन में सभी स्वर शुद्ध हैं। पूरा धुन सा रे ग म की आवृत्ति में निबद्ध है। चलन से कहरवा ताल का स्वरूप दिखलाई पड़ता है।

उपर्युक्त खेलगीत में स्वत: लय प्रवाहित है। तुक से तुक अपने आप मिला हुआ है। यह खेल घंटों तक एक लयात्मक भाव से शब्दों को आवृत करते हुए चलता रहता है।

'अट्टा-पट्टा' खेल मनोरंजन हेतु खेला जाता है। इसमें एक बच्चा का हाथ लेकर उसके हथेली पर दूसरा बच्चा थपकी देकर गाता है–

अट्टा-पट्टा दही चटक्का
बड़ फूले बड़इला फूले, सावन में करइला फूले
नेउरी गेलक पानी पीए,
खरबा खाइते पनिआ पीअइते, गुदुर-गुदुर।

उपर्युक्त गीत को बच्चे के हथेली पर थपकी देते हुए गाते हैं तथा धीरे-धीरे बच्चे के हाथ पर अपनी उंगली से चलने का भाव करते हुए कांख में गुदगुदी करते हैं और हंसते हुए अपना और उसका मनोरंजन करते हैं। यह खेल बारी-बारी से सभी बच्चे खेलते हैं।

बिहार में उपर्युक्त तरह का एक और खेल प्रचलित है जो एक से अधिक बच्चों के साथ खेला जाता है। इस खेल में सभी बच्चे अपनी पांच अंगुलियों को जमीन पर टिका देते हैं। हथेलियां जमीन को नहीं छूतीं। एक बच्चा केवल एक हाथ टिकाता है और दूसरे हाथ की उंगलियों से सभी बच्चों के हथेली को छूते हुए गाता है–

ओक्का-बोक्कर तीन तरोक्का
लउला लाठी चंदन काठी
चंदना के नाम कथी
इजई बिजई ढोरिया पुचुक ।।

ऐसा कहकर हाथों को पचका दिया जाता है। सबके हाथों को पचकाने के बाद बारी-बारी से पूछता है कि 'सूईया लेबऽ की डोरा' जो बच्चा सूईया बोलता है उसे जोड़ से चींटी काटता है और डोरा बोलने पर धीरे से चींटी काटता है। उपर्युक्त गीत की लयात्मक विन्यास अद्वितीय होती है।

'डेंगा पानी' खेल में सवाल-जवाब होते हैं। सब बच्चा घेरा बनाकर एक-दूसरे के हाथ को पकड़कर

गोल-गोल घूमते हैं। गोल घेरा में एक बच्चा रहता है वो भी घूमता रहता है। घेरे वाला बच्चा समूह में बीच वाले से प्रश्न करता है-

घो घो रानी, घो घो रानी
सात समुन्दर गोपी चन्दन
बोल मोरी मछरी कितना पानी?

बीच वाला बच्चा संकेत से घुटने या कमर तक बताकर कहता है-

इतना पानी घो घो रानी

उपर्युक्त खेल को दो दल बनाकर भी खेला जाता है। सवाल-जवाब में लयात्मक गति के साथ घूमते हुए अंग संचालन किया जाता है।

'तार काटो' भी बच्चे का गीतात्मक खेल है जिसमें एक बच्चा अपने पांव के अंगुठे को पकड़ता है, दूसरा उसके हाथ की उंगली को पकड़ता है; क्रमश: तीसरे, चौथे, पाँचवे बच्चे एक के उपर एक के हाथ का अंगूठा पकड़ते हैं। पहला बच्चा क्रमश: ऊपर से हाथ के शृंखला काटने का अभिनय करता हुआ गाता है-

'तार काटू तरकुन काटू
काटू रे बरखाजा
हाथी पर के घुँघरा
चमक चमक के राजा।
राजा की प्यारी बेटी
खूब बजाबे बाजा
ऊपर काटू नीचे काटू
काटू रे बरखाजा।

उपर्युक्त गीत के धुनों का जब अवलोकन करते हैं तो निम्न तरह की स्वारावली प्राप्त होती है-

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प़ | -प़ | ध़ | प़ | सासा | सासा | सा | सा |
| ता | ऽर | का | टू | तर | कुन | का | टू |
| | | | | | | | |
| प़ | प़ | ध़ | प़प़ | सा | - | सा | - |
| का | टू | रे | बर | ख | ऽ | जा | ऽ |
| | | | | | | | |
| ग | ग | रेरे | रे | सा | सा | सा | - |
| हा | थी | पर | के | घुँ | घ | रा | ऽ |
| | | | | | | | |
| पप | पप | गग | रे | सा | - | सा | - |
| चम | कच | मक | के | रा | ऽ | जा | ऽ |

अगली कड़ी भी इसी प्रकार गायी जाती है। इस धुन में सभी स्वर शुद्ध प्रयुक्त हैं। कहरवा ताल का लयात्मक चक्र दृष्टिगत होता है। यह धुन आधा सप्तक के स्वर में गाये गये हैं, जिसमें निषाद एवं मध्यम स्वर वर्ज्य हैं।

'कबड्डी' का खेल सबसे प्रिय और प्रसिद्ध है। प्राय: सभी प्रदेशों में यह खेल प्रचलित है। इसमें दो दल खेलते हैं। बीच में एक रेखा होती है। प्रत्येक दल से एक खिलाड़ी दूसरे दल की रेखा के अंदर कबड्डी के तरह-तरह के बोल एक साथ में बोलता है। सांस टूटने के पहले यदि वह दूसरे दल के किसी खिलाड़ी को छूकर अपने तरफ रेखा को पार कर आ जाता है तो वह खिलाड़ी 'मर' जाता है एवं यदि सांस टूटने पर यह खिलाड़ी दूसरे दल द्वारा पकड़ लिया जाता है तो वह खिलाड़ी 'मरा' हुआ माना जाता है। यह खेल बच्चों के फेफड़ों को स्वस्थ रखने के साथ उसके शरीर को भी पुष्ट करता है। कबड्डी खेल में बच्चे कोई न कोई गीत गाते रहते हैं। यह गीत एक दो स्वरों में निबद्ध रहता है लेकिन लय की गतिमत्ता अनोखी रहती है। यह गीत केवल तुकबंदी है। इसमें भाव और भाषा का विशेष ध्यान नहीं रहता, परन्तु संगीतात्मकता उत्पन्न करने के लिए तुक-तुक से अवश्य मिलाया जाता है। यह गीत शारीरिक श्रम को आनंददायक बनाने में सहायक होते हैं। खेलरत बच्चों द्वारा उच्चारित गीतों के कुछ उदाहरण निम्नवत हैं-

चल कबड्डी आस लाल, मर गया प्रकाश लाल
मेरा मोछ लाल-लाल...।।

x x x

कबड्डी-कबड्डी तोड़ देबऊ हड्डी
चूना लगा के बान्ह देबऊ पट्टी

x x x

चेत कबड्डी आइला, तबला बजाइला
तबला में तोता, राम जी के पोता

x x x

चल कबड्डी आइला, तबला बजाइला
तबला में पइसा, लाल बगइचा।।

x x x

एक कबड्डी रेता, भगत मोर बेटा
भगताइन मोरी जोरी, खेलबई हम होरी।। इत्यादि

इस तरह विभिन्न तुकबंदी के द्वारा यह खेल खेला जाता है। इस खेल में एक ही सांस में सारा गीत गाना पड़ता है, जो बड़ा कठिन कार्य है। इसलिए बालक ऐसा गीत चुनते हैं, जिसको गाते समय सांस लेने में थोड़ा समय मिल जाए और दूसरे दल वाले को पता भी न चले।

'आंख मुंदौउल' खेल में एक बच्चा को आंख बंद करके अन्य बच्चे उसे उसके हाथ में 'वस्तु' देकर चलते हुए प्रश्न करते हैं 'कहां जाइछे'। बच्चा बोलता है 'डगरे-डगरे'। इस प्रकार प्रश्न-उत्तर करते हुए एक जगह उसके हाथ के वस्तु को रखवा देता है, फिर उसे वहाँ से अलग ले जाकर जहाँ से चले थे वहाँ पहुँचाकर आँख को खोल देता है और उस वस्तु को खोजने को कहता है। अगर वह उस वस्तु को खोज कर ले आता है और किसी बच्चे को छू देता है तो यह खेल छूआने वाले बच्चे से आगे चलता रहता है। इसी प्रकार एक खेल में छोटे-छोटे बालक एक हाथ पर दूसरा हाथ रखकर खेलते समय यह गीत गाते हैं-

ताई-ताई पुड़िया, घी में चभोरिया
हम खाई कि भउजी खाई

भउजी पंचरंगिया।

अर्थात् बच्चा कहता है कि गरम-गरम रोटी में घी चुपड़ा है यह रोटी मैं खाऊँ कि भउजी। भउजी पतली है अत: उसे यह नहीं पचेगा। इसलिए यह रोटी मैं ही खाऊँगा।

'आँख मिचौनी' खेल बच्चों के बीच में काफी लोकप्रिय है। इसमें एक बालक को चोर बनाकर आँख बांध देते हैं। आँख बंधा बच्चा सबको छूने का प्रयास करता है और किसी को पकड़ लेता है तो वह बच्चा चोर हो जाता है। इस अवसर पर यह गीत गाया जाता है-

छुपी छुपी आगर-बागर जाई रे
चुहा मामा भाग बिल्ली आई रे।

देश के सभी भागो में 'छुआ छूत' खेल खेला जाता है। इस खेल में एक बच्चा चोर बनता है और वह किसी को भी छू देता है तो वह बच्चा अगला चोर नियुक्त होता है। खेल के शुरू में चोर चुनने के लिए निम्न गीत गाते हैं-

अक्कड़ बक्कड़ बम्बे बोल
अस्सी नब्बे पूरे सौ
सौ में लागा धागा
चोर निकल कर भागा।।

उपर्युक्त गीत का 'भागा' का 'गा' जिस बच्चा पर आता है, वह बाहर निकल जाता है। इस तरह यह प्रक्रिया बार-बार दुहराने पर अन्त में बचा हुआ बच्चा चोर बनता है।

कुछ खेल ऐसे भी होते हैं जिसमें बड़े लोग बच्चों के मनोरंजन या खेलाने हेतु गाते हैं। बड़ा बच्चा या बड़े लोग लेटकर घुटनों को मोड़कर उसपर बच्चे को बैठाकर झुलाते हुए गाते हैं-

घुघुआ मन्ना उपजे धन्ना
बऊआ खाए दूध-भात
बिलईआ चाटे पतवा
पतवा उड़ियाएल जाए
बिलईया रगदले जाए
जाए गइली घर-घर
ताए भगलक बर पर
गे बुढ़िया नानी,
हड़िया-खपड़ी सइंत के रखिहे
बऊआ हम्मर जइतउ
फोड़ फाड़ देतउ
नया घर उठे, पुराना घर गिरे।

या,

थापक थोला दही मटोला
गुड़ का ढेला
मेरी तेरी बारी आई
बाँट बाँट खाई

नई भीत उठी
पुरानी भीत गिरी

अंतिम पंक्ति को कहते हुए बच्चे को घुटने पर उठाते जाते हैं और फिर नीचे कर लेते हैं। उपर्युक्त गीत का मुख्य भाव यह है कि नयी पीढ़ी उठ रहा है और पुरानी पीढ़ी जर्जर होकर नीचे जा रही है।

और बहुत से खेल हैं जिसमें गीतों के द्वारा खेल आगे बढ़ता है। इस खेल गीत के अन्तर्गत ही पहेलियाँ (बुझउअल) भी आता है। पहेलियाँ बौद्धिक व्यायाम के अंग हैं। बच्चे एक-दूसरे से पहेली बुझाते हैं। इन पहेलियों में उसके अर्थ वस्तु वर्णन में ही छिपा रहता है। जैसे-

हरि थी मन भरी थी
लाख मोती जड़ी थी
राजा जी के बाग में
दुसल्ला ओढ़ी खड़ी थी।। (उत्तर-मकई के बाल)

खेल गीतों में निरर्थक शब्द-व्यंजना का प्रयोग होता है। लेकिन तुक से तुक मिलने से एक सांगीतिक वातावरण का निर्माण के साथ धुन के लयात्मक वातावरण मिलते हैं और गीत को उत्साह से पूरित करती है। उसमें निहित भाव भी उभरकर आता है। साथ ही बच्चे के सृजनात्मक क्षमता का दर्शन भी होता है। निरर्थक शब्द भी खेल खेलते समय साकार हो जाता है। सामुदायिक भाव नृत्य की प्रवृत्ति, लयात्मकता की प्रवाह बच्चों में स्वस्फूर्त रूप से विकसित होते हैं। खेल के नये-नये आयाम आने से वर्तमान अभिजात संस्कृति में लोक संस्कृति गीतात्मक खेल लुप्त होते जा रहे हैं। अतः इन खेलों को संरक्षित करने की आवश्यकता है।

❑❑❑

आलेख

मुजफ्फरपुर प्रसंग(विरासत)

# विश्व का पहला काव्य-भाषा आंदोलन

○ वीरेन नंदा✡

हिन्दी को नई चाल में ढाल 'गद्य' की भाषा 'खड़ी बोली' को परवान चढ़ाया *हरिश्चन्द्र* ने और वे भारतेन्दु हो गये; किन्तु उसके दूसरे अंग 'पद्य' को ब्रजभाषा से मुक्ति दिलाने में जिस *अयोध्या प्रसाद खत्री* (1857-1905) ने अपना सर्वस्व होम किया, उनके वंश में तो उनका कोई नामलेवा न रहा, हिन्दी साहित्य के वंशधर भी विषधर निकले !

कहने की जरूरत नहीं कि आज खड़ी बोली हिन्दी कविता 'नव गति, नव लय, ताल-छंद-नव' सदृश्य शिखर पर है, किन्तु इसे स्थापित करने में अयोध्या प्रसाद खत्री ने जो भगीरथी प्रयत्न किये, उसे उस दौर के लेखकों ने तो उपहास किया ही, बाद की पीढ़ी ने भी उन्हें हाशिये पर रख छोड़ा।

आज हिन्दी भाषा का सामान्य अर्थ खड़ी बोली हो चुकी है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जिसे '*निजभाषा उन्नति*' से जोड़ '*बोली में लिखा जाने वाला गद्य ही अंत तक साहित्य का महत्वपूर्ण और प्रभावशाली वाहन बनता है*' कहा; लेकिन 'बोली' में लिखा जाने वाला 'पद्य' उन्हें रास नहीं आया ! वे 'पद्य' में ब्रजभाषा के आग्रही बने रहे- इस आधार पर कि *वह "मेरे चित्तानुसार नहीं बनी"*। यह विषम स्थिति थी- 'गद्य' लिखो तो खड़ी बोली में और 'पद्य' लिखना हो तो ब्रजभाषा में ! दुनिया की किसी भी भाषा में ऐसा विरोधाभास नहीं था कि 'गद्य' और 'पद्य' की भाषा अलग-अलग हो। शायद इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'गद्य काल' की संज्ञा दी। इस विसंगति की पहचान सर्वप्रथम मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री ने की, और नारा दिया - 'गद्य और पद्य की भाषा एक हो।'

उनकी स्पष्ट धारणा थी कि दुनिया में ऐसी कोई भाषा नहीं, जिसमें कविता न हो सकती हो। इसी सोच के तहत गद्य की गद्दी पर पद्य की पदवी को पहुँचाने, वे खड़ी बोली में लिखी जा रही उस समय की कविताओं को चुनकर "खड़ी बोली का पद्य, पहिला भाग" पुस्तक 1887 में मुजफ़्फ़रपुर (बिहार) के नारायण प्रेस से प्रकाशित कर देश-विदेश में मुफ्त वितरण किया। इस पुस्तक पर मूल्य की जगह छपा था - 'कोई मूल्य नहीं'। और सचमुच यह पुस्तक हिन्दी कविता के इतिहास की अमूल्य निधि साबित हुई।

इसका दूसरा संस्करण भी उसी वर्ष प्रकाशित हुआ जिसकी 1638 प्रतियाँ छपी थीं। इस पुस्तक के पहले संस्करण में खत्री जी ने 5 जुलाई 1887 ई. जो भूमिका लिखी, उसमें खड़ी बोली के पाँच भेद बताये, 1. ठेठ

✡ *कवि, लेखक एवं शोधकर्ता, मुजफ्फरपुर, बिहार।*

हिन्दी, 2. पण्डित जी की हिन्दी, 3. मुंशी जी की हिन्दी, 4. मौलवी साहब की हिन्दी, 5. यूरेशियन/यूरोपियन हिन्दी (अर्थात हिंग्लिश), और पाँचों तरह की कविताएँ इसमें संकलित की। 'मुंशी जी की हिन्दी' को उन्होंने सर्वोत्तम काव्य-भाषा के रूप में रेखांकित किया क्योंकि यह आवाम की भाषा थी- 'न ठेठ हिन्दी, न खालिस उर्दू, जबान गोया मिली जुली हो, अलग रहे न दूध से मिश्री, डली-डली दूध में घुली हो' की तरह। किन्तु इस शैली को लोगों ने हिंदुस्तानी समझा, जिसका सीधा मतलब था उर्दू। संकीर्ण हिन्दू मानसिकता वाले ब्रजभाषा को स्वर्ग की सीढ़ी मानते थे और उनके लिए यह यावनी भाषा थी, जिसकी छाया भी वे हिन्दी पर नहीं पड़ने देना चाहते थे। खत्री जी उर्दू को हिन्दी की एक स्टाइल कहते हुए इसे मात्र लिपियों का भेद कहा।

राष्ट्र की राष्ट्रभाषा वही बोली होती है जो जन-जन में बोली जाती हो और जनव्यापिनी भाषा 'खड़ी बोली' के अतिरिक्त कोई दूसरी बोली भारत में न थी। यह दिल्ली, आगरा, बनारस, लखनऊ, फैजाबाद, बिहार, कलकत्ता से लेकर पंजाब, अफगानिस्तान और दक्खिन तक बोली जाने वाली भाषा थी और इसकी वर्णमाला भी सम्पूर्ण भारत से संबंध रखती थी। वे गिलक्राइस्ट और ताशी की कूटनीतिक भाषा नीति को अच्छी तरह समझ रहे थे।

1757 के पलासी युद्ध से 1857 के सिपाही विद्रोह तक का काल मुगल साम्राज्य के पतन और अँगरेजों के उदय की कहानी से खत्री जी भी रूबरू हुए होंगे और 'सिपाही विद्रोह' की असफलता का कारण केवल 'असंगठित' होना भर न माना होगा ! बल्कि राष्ट्र की एक भाषा का न होना भी समझ रहे थे, क्योंकि वे जानते थे कि पद्य जीवन की शक्ति है तो गद्य राष्ट्र की शक्ति।

इसका तीसरा संस्करण हिन्दी के अँगरेज़ विद्वान 'फ्रेडरिक पिन्काट' ने 1888 में पुन: लंदन से प्रकाशित किया और अपनी भूमिका में इस पुस्तक के प्रकाशन को 'साहित्यिक अवधारणा का उदय', 'उल्लेखनीय' और 'दूरगामी' कहते हुए 'विशेष घटना' के रूप में रेखांकित किया। यह भारत से बाहर इंग्लैंड या विदेश से छपने वाली पहली काव्य-पुस्तक थी।

लंदन से पुनर्मुद्रित इस पुस्तक ने भारतेन्दु मंडल के साहित्यकारों के बीच आग में घी का काम किया। इसके वितरित होते ही देश के हिन्दी पट्टी में भूचाल आ गया। यह काव्य-भाषा के समर में महायज्ञ का घोड़ा साबित हुआ, जिसने देश भर में एक विराट आंदोलन खड़ा कर दिया। भारतेन्दु मंडल के साहित्यकार और ब्रजभाषा के प्रबल पक्षधर राधाचरण गोस्वामी ने 'खड़ी बोली का पद्य' पुस्तक के पहला संस्करण आते ही विरोध का डंडा घुमाया- "खड़ी बोली की कविता 'पिशाची' नहीं तो 'डाकिनी' अवश्य कवि समाज में मानी जायेगी।" (हिंदोस्थान, 11 नवंबर 1887).... "खड़ी बोली में कविता करने की लालसा उन्हीं लोगों को विशेष होती है जो ब्रजभाषा में न कविता कर सकते न काव्य तत्व को जानते हैं और कविता करने को आतुर हैं।" (15 जनवरी सन् 1888 ई., हिंदोस्थान)। उस समय के विद्वान कवि-लेखक और 'ब्राह्मण' पत्रिका के संपादक *प्रताप नारायण मिश्र* ने 'लेखक की मनोगति असंभव' करार देते आधुनिक कवियों के शिरोमणि भारतेन्दु की दुहाई दी - "जब यह (कार्य) उनसे न हो सका तो दूसरों का यत्न निष्फल है" ( 8 मार्च सन् 1888 ई., हिंदोस्थान)...."हमारी खेलती कूदती बोली (ब्रजभाषा) के आगे आप की खड़ी बोली एक मिनट न खड़ी रहेगी"...."जो भाषा लाखों छंदों में से 21-22 छंदों में काम आ सकती है उस भाषा को कौन बुद्धिमान हिन्दी कवि कविता के योग्य कह सकता है"...."ईश्वर ने पकी पकाई खीर दे रक्खी है तो दलिया पकाने में समय क्यों खोवें"।(हिंदोस्थान, 21मार्च सन् 1888 ई. )।

आंदोलन सघन हो रहा था। खत्री जी का साथ श्रीधर पाठक दे रहे थे- "गद्य की गद्दी पर पद्य पहुँचाने की लालसा है".,...."पं. राधाचरण गोस्वामी सरीखे वेत्ता भी अब अपने लेख को कुवाक्यों से कुत्सित करने में

संकोच नहीं खाते"...." 'मेरे चित्तानुसार नहीं बनी' यह कहा था भारतेन्दु ने असम्भव नहीं ".....“21 के ऊपर एक बिन्दी लगाकर इस भाषा में छंद दिखला सकते हैं। यदि दोहे देखने हो तो नागरी दास का 'इश्क चमन' देखिये, चौपाई मैं दिखा दूँगा।" (3 फरवरी, 8 मार्च व 3 अप्रैल सन् 1888 ई. एवं 20 दिसंबर सन् 1887 ई.)।

भाषाविद् ग्रियर्सन ने उस पुस्तक को देख इसके असफल होने की भविष्यवाणी करते खत्रीजी को 6 सितंबर 1887 को भेजे पत्र में लिखा कि "बनारस के बाबू हरिश्चन्द्र से इस संदर्भ में उनकी बातें हुई थी और मैं उनके तर्कों से सहमत हूँ।" और जब उन्हें लंदन वाली पुस्तक की प्रति खत्री जी ने भेजी तो वे चिढ़कर अपने 6 फरवरी 1890 को भेजे पत्र में लिखा - "Dear Sir, I have received a copy of your Khari Boli Ka Padya. It is very nicely printed, but I regret that I cannot agree so much labour and money have been spent upon an impossible task." पुन: 22 फरवरी सन् 1890 ई. को खत्री जी को खीझते हुए पत्र लिखा- "I must ask you not to trouble to send me any more papers & c about Khari Boli, my mind is quite made up on the subject."

जबकि ग्रियर्सन को खत्री जी ने अपना उद्देश्य लक्षित करते हुए व्याकरण, कविता और छन्द शास्त्र विषयक अपना मंतव्य भेजा था तो उन्होंने 21 सितंबर 1881 को जो टिप्पणी की थी, वह इसके बिल्कुल उलट थी। उनकी टिप्पणी थी, "He has now written a second part treating of prosody, in which he maintains with considerable show of reason, that if Hindi prose is written in the so called Khari Boli, Hindi poetry should also be written in the same dialect, and not in Braj bhashaa. He gives several examples to show that his proposition is not only advisable but possible. I recommend his views for consideration without venturing to give myself at present any decided opinion on the question." किन्तु ग्रियर्सन का यह ओपिनियन बाद में भारतेन्दु से बात करने के बाद बदल गया कि खड़ी बोली में कविता नहीं हो सकती है।

वहीं दूसरी ओर इंग्लैंड से फ्रेडरिक पिन्काट ने खत्री जी का उत्साह बढ़ाते 14 अक्टूबर 1887 को लिखा कि "निश्चय ही यदि आप कविता में खड़ी बोली के प्रयोग के लिए लेखकों को प्रोत्साहित कर पाते हैं तो आप उन्हें कविता के विकास की ओर एक कदम आगे ले जा सकेंगे।" साथ ही 27 अक्टूबर 1887 को पुन: लिखा- "कविता सबसे सुंदर और सर्वोत्तम बोलचाल की भाषा में ही लिखी जानी चाहिए। चंदबरदाई ने उसी भाषा में लिखा जो वे बोलते थे; कबीर ने भी वही किया, तुलसी ने भी, गुरुनानक ने भी और उन सभी कवियों ने अपने हृदय के विचारों को उसी भाषा में व्यक्त किया जो वे बोलते थे। कविता में ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली को प्रश्रय देने का आपका प्रयास अपने देशवासियों के लिए प्रेरणादायक, सभी तरह से प्रशंसनीय और प्रोत्साहित करने वाला कार्य है।" इतना ही नहीं, उन्होंने खत्री रचित अन्य पुस्तक 'मौलवी स्टाइल की हिन्दी का छंद भेद' और 'मौलवी साहब का साहित्य' के साथ 'खड़ी बोली का पद्य' पुस्तक की समीक्षा लंदन से प्रकाशित होने वाले अखबार 'द ओवरलैंड मेल' के 15 अगस्त 1887 अंक में की।

खत्रीजी पर चारों तरफ से प्रहार होने लगा। विरोध से खत्री जी टूटे नहीं। उनका कहना था कि विरोध से काम में प्रगति आती है। वे 'समालोचना को उन्नति की पहली सीढ़ी' मानते थे। मगर विरोधी मान नहीं रहे थे। ब्रजभाषी मठाधीश भारतेन्दु नामक 'अभेद्य दुर्ग' खड़ा कर रखा था। भारतेन्दु के इस कथन "पश्चिमोत्तर देश की कविता की भाषा ब्रजभाषा है यह निश्चित हो गया है। मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ। पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम होता है। मैंने इसका कारण सोचा खड़ी बोली में कविता मीठी क्यों नहीं बनती तो मुझको सबसे बड़ा कारण यह जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्राय: दीर्घ मात्रा होती है इससे कविता अच्छी नहीं बनती",

को सभी ने खत्रीजी के विरोध का आधार बना रखा था।

श्रीधर पाठक खत्री जी का साथ दे रहे थे। 'मेरे चित्तानुसार न बनी' का मतलब समझा रहे थे लेकिन दुर्ग टूट नहीं रहा था। सर्वजनस्वीकृत भाषा स्थापित करने का मार्ग खुल नहीं रहा था। 'दुकान हटा लो, घोड़ा न हटाऊँगा' कहने वालों का मुँह बंद करने के लिए तब खत्री जी ने डंके की चोट पर "एक अगरवाले के मत पर खत्री की समालोचना" शीर्षक से एक दुस्साहसिक लेख लिखा- "ब्रजभाषा कविता के पक्षपाती बाबू हरिशचंद्र की दुहाई देते हैं इसलिए हरिशचंद्र के वचन का खंडन होना आवश्यक है। बाबू हरिश्चंद्र ईश्वर नहीं थे। उनको शब्दशास्त्र का philology का कुछ भी बोध नहीं था। यदि philology का ज्ञान होता तो खड़ी बोली में पद्य रचना नहीं हो सकती है ऐसा नहीं कहते।" पुनः भारतेन्दु के कथन पर चोट करते आगे लिखा कि "यदि दीर्घ मात्रा के कारण खड़ी बोली में कविता करने में कठिनता है तो दीर्घ को ह्रस्व कर देना कवियों को Poetical Licence बहुत दिनों से हासिल है.....।"

ईश्वर की तरह भारतेन्दु को पूजने वाले ब्रजभाषी हिमायतियों ने खत्रीजी की इस टिप्पणी को भारतेन्दु पर व्यक्तिगत हमला समझा, जबकि ऐसा था नहीं। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के जून 1902 अंक में बाबू राधाकृष्ण दास लिखित 'भाषा, कविता की भाषा' शीर्षक अपने आलेख में उन्होंने भारतेन्दु की ही पंक्ति "जामै रस कछु होत है पढ़त नाहीं सब कोय/ बात अनूठी चाहिए भाषा कोऊ होय" को कोट करते हुए अपनी बात सिद्ध करने की कोशिश की थी। इसलिए यह कहना गलत है कि वे भारतेन्दु के व्यक्तिगत विरोधी थे। यदि होते तो भारतेन्दु ने खड़ी बोली में जो थोड़ी-बहुत कविता लिखी थी उसे अपनी पुस्तक 'खड़ी बोली का पद्य, पहिला भाग' में 'मुंशी स्टाइल' के अंतर्गत नहीं रखते।

और भारतेन्दु को ब्रजभाषी ईश्वर साबित नहीं कर पाए। अयोध्या प्रसाद खत्री का अपना सर्वस्व होम करना रंग लाया। 1903 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने खत्री जी का प्रस्ताव 'खड़ी बोली में कविता हो' के जय घोष के साथ पारित किया। 1910 आते-आते ब्रजभाषा की शहनाई बंद हो गई। मैथलीशरण गुप्त का 'भारत भारती' 1912 में और अयोध्या प्रसाद उपाध्याय 'हरिऔध' का 'प्रियप्रवास' काव्य संग्रह 1914 में प्रकाशित होने के बाद खड़ी बोली में कविता किए जाने का सिलसिला चल पड़ा।

जिस खड़ी बोली की मुंशी शैली या हिन्दुस्तानी भाषा की बात खत्रीजी ने की उसकी वकालत बाद में महात्मा गाँधी, नेहरू और राजेन्द्र प्रसाद ने भी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार की थी। इसी शैली को अपनाकर देवकीनंदन खत्री ने ख्याति अर्जित की। प्रेमचंद भी इसी कारण कथा जगत के सिरमौर बने। रामविलास शर्मा ने अपने 'भारतेन्दु युग' में लिखा है कि 'यदि भारतेन्दु बाबू का वही मत होता, तब भी उसका खंडन आवश्यक था।'

खड़ी बोली काव्य-भाषा के इस आंदोलन में देश की लगभग सभी पत्र-पत्रिकाओं ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया जिनमें हिंदोस्थान, बिहार बन्धु, बिहार टाइम्स, भारत मित्र, प्रदीप, कविवचन सुधा, काशी पत्रिका, ब्राह्मण, पीयूष प्रवाह आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है।

शताब्दियों से कृष्ण-भक्ति से लबरेज और लोकप्रिय ब्रजभाषा को छोड़कर खड़ी बोली हिन्दी काव्य भाषा का यह अविस्मरणीय आन्दोलन, दुनिया की किसी भी भाषा का पहला और अंतिम काव्य-भाषा आन्दोलन था जो खड़ी बोली को कविता के लिए सबसे समर्थ भाषा सिद्ध करने के लिए खत्रीजी ने किया। यह मुजफ़्फ़रपुर जैसे कस्बाई शहर से शुरू हुआ, घटित हुआ, स्वीकृत और स्थापित भी। अयोध्या प्रसाद खत्री की बदौलत आज खड़ी बोली हिन्दी कविता 'सुर धनु की सतरंगी चुनरी' पहन अपनी ध्वजा विश्व में फहरा रही है।

x x x x x x x x

अयोध्या प्रसाद खत्री का जन्म 1857 में उत्तरप्रदेश के बलिया जिले के सिकंदरपुर ग्राम में हुआ था। गदर के कारण उनके पिता जगजीवन लाल खत्री मुजफ्फरपुर आकर बस गए और जीविका के लिए कल्याणी पर एक किताब की दुकान खोली। बालक अयोध्या पिता से मीर और तुलसी के भजन सुनते तो माता ने उन्हें गीता कंठस्थ करा दी। पढ़ने की उम्र हुई तो घर पर ही मौलवी आने लगे। मेधावी होने के कारण जल्दी ही वे उर्दू-फारसी की किताबें पढ़ने लगे। तत्पश्चात उनका नाम यहाँ के जिला स्कूल में कराया गया। अयोध्या प्रसाद खत्री तीन भाई थे। बड़े का नाम नारायण लाल खत्री तथा छोटे का द्वारिका प्रसाद खत्री। बालक अयोध्या कुशाग्र, परिश्रमी मगर हठी स्वभाव के थे। स्कूल जाने में आनाकानी करते तो पिता उन्हें जबरन स्कूल पहुँचाते या स्कूल के शिक्षक विद्यार्थियों को भेज उन्हें टंगवा कर मंगवाते। धीरे-धीरे उन्हें साहित्य से अनुराग होने लगा। स्कूली शिक्षा के दौरान उन्होंने एक हस्तलिखित पत्रिका भी निकाली। स्कूल के वाद-विवाद में अव्वल आते। सामाजिक, साहित्यिक और धार्मिक विषयों पर निबंध लिखने लगे।

सामाजिक कार्यों में नि:स्वार्थ भाव से वे बचपन से ही हिस्सा लेते। मेले-ठेले के समय अपने मित्रों के साथ भीड़ नियंत्रित करते। एक बार पड़ोसी ब्राह्मण के घर आग लगी तो उसे बुझाने में कूद पड़े। आग तो बुझ गई लेकिन उसमें वे आंशिक रूप से झुलस भी गए लेकिन इस बात से वे विचलित नहीं हुए।

इंट्रेन्स में पढ़ने के दौरान उनके पिता की मृत्यु हो गई, जिस कारण उन्हें पढ़ाई छोड़ दुकान संभालनी पड़ी। दुकान चलाते हुए उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा। दुकान पर उन्हें अहसास हुआ कि किताबें बेचना सिर्फ लाभ कमाना नहीं है। इसलिए उन्होंने कुरुचिपूर्ण व अशुद्ध किताबें दुकान से न बेचने की ठानी। एकबार उनके छोटे भाई द्वारिका प्रसाद कुछ वैसी ही किताबें लाभ समझ मंगवा ली। खत्री जी की नजर पड़ते ही उसे दुकान से हटा दाम गल्ले में रख दिया। वे हिन्दी के प्रति इतने सजग थे कि एक बार जब काशी गए तो वहाँ एक किताब की दुकान में चले गए। वहाँ अशुद्ध हिन्दी की किताब देख दुकानदार को फटकार लगाई- "आप हिन्दी की पुस्तकें बेचते हैं कि अशुद्ध हिन्दी का प्रचार करते हैं।" दुकानदार उनकी बात सुन पूछा- "क्या बात है?" तब खत्री जी ने किताब की अशुद्धियों की ओर इशारा कर बताया। उनकी बात सुन उसने खत्री जी से नाम पूछा तो उन्होंने कहा- "अयोध्या प्रसाद खत्री।" उनका नाम सुन आश्चर्य से उसने कहा- "क्या आप ही बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री हैं?" खत्री जी क्रोध से बोले- "क्या आज से पहले किसी दूसरे बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री से मुलाकात हुई थी?" उनकी बात सुन दुकानदार हँस पड़ा- "जैसा सुनता था ठीक वैसा ही पाया- बात बात में आलोचना और नुक्ताचीनी।" दुकानदार वो किताबें वहाँ से हटाने लगा तब खत्री जी ने कहा- "लेकिन यह तो आपका व्यवसाय है। इसका दाम मुझसे ले लीजिए।" कहकर वे जेब में हाथ डालने लगे तब दुकानदार हाथ जोड़ बोला- "बाबू साहब, अब और शर्मिंदा न कीजिए।"

किताब बेचना सिर्फ लाभ कमाना नहीं, के हठ के कारण दुकान की हालत बिगड़ने लगी तो दुकान भाई को सौंपकर वे कुढ़नी माइनर स्कूल में शिक्षक हो गए। वहाँ छात्रों के लिए हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकों का अभाव देख लाट साहेब को पत्र भेजा कि देवनागरी लिपि में पुस्तकें प्रकाशित की जाए। अपने इसी अभियान के तहत उन्होंने सर्वप्रथम 'हिन्दी व्याकरण' लिखी, जो 1877 में बिहार बंधु प्रेस, पटना से छपी। इस पुस्तक की ग्रियर्सन ने तारीफ करते लिखा- "It contains a number of points which have not be dealt with in any other Hindi Grammar written in the vernacular- It seems to be written in intelligible language and well & adapted for school purposes." इसका दूसरा संस्करण खड्गविलास प्रेस ने छापा। इस व्याकरण में अँगरेज़ी के विराम चिह्नों का प्रयोग हिन्दी में भी किये जाने की स्थापना उन्हीं की है। साथ ही उन्होंने अन्य शिक्षकों को भी हिन्दी में पुस्तकें लिखने को प्रेरित किया। उनके मित्र मुंशी राधालाल ने 'भाषा-बोधिनी' और 'हिन्दी शब्दकोश' तैयार किया। ये तीनों पुस्तकें ही उस समय बिहार के हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों की आधारशिला

बनी।

हिन्दी में पुस्तकों का अभाव तो था ही, गद्य और पद्य की भाषा भी एक न थी। वे खड़ी बोली में कविता लिखे जाने की वकालत करने लगे। लोगों के पास जा-जाकर कविता लिखने की मिन्नत करते। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने खत्री जी पर व्यंग करते लिखा कि "मैं समझता हूँ कि हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल में संस्कृत-वृत्तों में खड़ी बोली के कुछ पद्य पहले-पहल मिश्रजी (पंडित चन्द्रशेखरधर मिश्र) ने ही लिखे। बाबू अयोध्या प्रसादजी उनके पास भी पहुँचे, और कहने लगे- लोग कहते हैं कि खड़ी बोली में अच्छी कविता नहीं हो सकती। क्या आप भी यही कहते हैं? यदि नहीं, तो मेरी सहायता कीजिए। उक्त पंडितजी ने कुछ कविता उन्हें लिखकर दी, जिसे उन्होंने अपनी पोथी में शामिल किया।"

इस तरह खत्री जी खड़ी बोली की कविताएँ इकट्ठी करने लगे और अपना ध्येय लक्षित करते हुए व्याकरण, कविता और छन्द शास्त्र विषयक अपने सिद्धांत को ग्रियर्सन के पास भेजा। जिसे देख ग्रियर्सन ने उन्हें 21 सितंबर 1881 को जो टिप्पणी की (टिप्पणी ऊपर दिया जा चुका है) उसने खत्री जी का ध्येय निश्चित कर दिया।

कुढ़नी माइनर स्कूल में एक बार बिहार के स्कूल इंस्पेक्टर भूदेव मुखोपाध्याय निरीक्षण के लिए पहुँचे। खत्री जी क्लास में पढ़ाने में मशगूल थे। उनके पढ़ाने की शैली से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्हें उस स्कूल का हेडमास्टर बना दिया। किन्तु उनका ध्यान हिन्दी के विकास में लगा था तो इस नौकरी में मन कैसे रमता! नौकरी छोड़ फिर से दुकान में बैठने लगे। उसी वक्त अँगरेज़ी हुकूमत ने अँगरेज़ अधिकारियों के लिए फरमान जारी किया कि उन्हें यहाँ की एक स्थानीय भाषा सीखनी होगी। हिन्दी सीखने के लिए उन्हें खत्री जी से बेहतर शहर में कोई दूसरा न मिला। खत्री जी उन सबों के शिक्षक बन गए। पढ़ाने के दौरान एक अँगरेज़ अधिकारी उनसे इतना प्रभावित हुआ कि उन्हें कचहरी में लिपिक के पद पर 1886 में बहाल कर लिया। खत्री जी अपनी मेधा, कर्तव्यनिष्ठता और कार्यकुशलता के बल पर जल्दी ही कलक्टर के पेशकार बन गए और लोगों के बीच 'पेशकार साहेब' के नाम से जाने जाने लगे। उन्होंने अपने अंतिम समय तक छः कलक्टर के साथ काम किया।

कचहरी में काम करते हुए भी वे हिन्दी के प्रति कभी उदासीन नहीं रहे। भाषा की शुद्धता पर उनकी पैनी दृष्टि रहती। आते-जाते वे दुकानों के साइनबोर्ड पढ़ते चलते। जहाँ कोई अशुद्ध साइनबोर्ड दिखता, झट ताँगा से उतर दुकानदार को ठीक करवाने को कहते या खुद पेंटर ले जाकर उसे शुद्ध करवाते। शहर की दीवारों पर इश्तेहार लगवाते- "शुद्ध हिन्दी का व्यवहार करें।" अपने छाता पर लिखवा रखा था- "खड़ी बोली में पद्य लिखिए।" रोमन लिपि में लिखे संकेत पट्टों को मिटवा कर हिन्दी में लिखवाते। अशुद्ध उच्चारण या अशुद्ध हिन्दी लिखा देख वे अंतरंग मित्रों को भी नहीं छोड़ते।

एक दिन अपने मित्र राजवैद्य पंडित द्रव्येश्वरनाथ के दवाखाने पर अशुद्ध साइनबोर्ड देख बिगड़ पड़े - आप जैसा व्यक्ति भी जब हिन्दी की ऐसी दुर्दशा करेगा तो क्या होगा हिन्दी का ? और जब तक वैद्य जी ने साइनबोर्ड नहीं उतरवाया, वे दवाखाने में नहीं गए। 'हिन्दी के प्रति किसी भी तरह की असावधानी से हिन्दी का भयंकर अहित हो सकता है', मानने वाले खत्रीजी की आलोचना से घर-बाहर का कोई भी व्यक्ति नहीं बच पाता।

एक बार जिला स्कूल के संस्कृत-हिन्दी के शिक्षक अंबिकादत्त व्यास अपनी 'पियूष प्रवाह मासिक' पत्रिका पर उनसे सम्मति लेने पहुँचे। खत्रीजी ने छूटते ही कहा- "मैं अशुद्ध हिन्दी की पुस्तक या पत्रिका पर अपनी सम्मति नहीं देता..... पियूष का भी कहीं प्रवाह हुआ है और वह भी मासिक ?"

भाषा की अशुद्धि पर किसी की भी खबर लेने से बाज नहीं आने वाले खत्रीजी के इसी हठी स्वभाव को देख महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के मार्च 1905 अंक में टिप्पणी की थी- "बाबू साहब के हठी और

विलक्षण होने का एक प्रमाण यह है कि आप लोगों की खानगी चिट्ठियों तक को छाप-छापकर उनकी गलतियाँ बताते थे।" 'बिहार बन्धु' ने 1 मई 1903 के संपादकीय में लिखा कि "जो लोग अपने को हिन्दी का सुलेखक लगाते है उनसे यदि एक नुकते कि भी गलती होती है तो बाबू साहब उनकी लेखनी थाम्ह लेते हैं।"

वे लोगों की केवल आलोचना ही नहीं करते बल्कि आदर सत्कार में भी आगे रहते। एक बार श्रीधर पाठक किसी सरकारी काम से मुजफ्फरपुर आए तो उनका न केवल सत्कार ही किया बल्कि आयोजन कर उन्हें सम्मानित भी किया। श्याम सुन्दर दास खत्री जी के प्रबल प्रतिद्वंदी थे। 1896 में जब वे मुजफ्फरपुर आये तो खत्री जी से नहीं मिले; इसके बावजूद उन्होंने उनका यथोचित सत्कार ही नहीं करवाया बल्कि मुजफ्फरपुर के दो जमींदार श्री परमेश्वर नारायण महथा और विश्वनाथ प्रसाद महथा से सवा-सवा सौ रुपये नागरी प्रचार तथा पचास-पचास रुपये रोमन-लिपि-विरोध के लिए दिलवाए।

1902 में सप्तम एडवर्ड के दिल्ली दरबार में हिन्दी का एक शिष्टमंडल खत्री जी ने बर्दमान महाराज के सहयोग से बनाई, जिसका नेतृत्व श्यामसुन्दर दास ने किया, लेकिन वे वहाँ जाकर केवल दरबार दर्शन करते रहे और बाद में 'सरस्वती' के अंकों में संस्मरण लिखते रहे। वही श्यामसुन्दर दास जब हिन्दी साहित्य का इतिहास "हिन्दी कोविद-रत्नमाला" नाम से लिखा तो उसके किसी भी खण्ड में अयोध्या प्रसाद खत्री के नाम का भूल से भी उल्लेख नहीं किया।

मुजफ्फरपुर के जमींदार परमेश्वर नारायण महथा और विश्वनाथ प्रसाद महथा के सहयोग से धर्म समाज विद्यालय (अब धर्म समाज संस्कृत महाविद्यालय) में एक 'नोवेल रीडिंग क्लब' नाम से पुस्तकालय खोला गया था जिसे खत्री जी के सुझाव पर 'हिन्दी-भाषा-प्रचारिणी सभा' कर दिया गया। यहाँ से हिन्दी के प्रचार के लिए पुस्तकें और पर्चे प्रकाशित होते। सरकार और देशी रजवाड़ों को मेमोरेंडम, डेपुटेशन आदि भेजे जाते। उस समय यह प्रचारिणी सभा और आरा की प्रचारिणी सभा ही इस राज्य की प्रखर हिन्दी संस्थाएँ थी। एक समय जब आरा की प्रचारिणी सभा अर्थाभाव के कारण टूटने लगी तो खत्री जी ने तत्काल 50 रुपए भेजकर उसे टूटने से बचाया।

कचहरियों में हिन्दी लागू किए जाने का आंदोलन चल रहा था। जिसमें रामदीन सिंह, केशवराम भट्ट, गोविन्द चरण, रामकृष्ण पाण्डेय, मुंशी हसन अली के साथ खत्रीजी भी थे। उस समय कचहरियों में तत्परता से काम करने की भाषा अंग्रेजी और उसके बाद फारसी थी। हिन्दी का कोई नामोनिशान नहीं। इसका विरोध हुआ तो पटना के कमिश्नर ने इसे परखने हेतु तमाम लिपिकों की परीक्षा ली, जिसमें सत्तर फारसी दाँ, इक्कीस रोमन लिपि वालों ने आवेदन दिया, देवनागरी में कोई नहीं ! खत्रीजी ने आरा के जंगलीलाल को देवनागरी लिपि में परीक्षा देने को तैयार किया। जंगलीलाल ने लोगों की धारणा निर्मूल साबित कर हुए परीक्षा में अव्वल आए। परिणाम स्वरूप कचहरियों में हिन्दी लागू हुई।

हिन्दी के प्रचार के लिए वे तरह-तरह के यत्न करते। खड़ी बोली में कविता लिखने के लिए लोगों को प्रेरित करते, मिन्नते करते, लिखने वाले को 5 से 10 रुपए देकर पुरस्कृत करते। रामायण की प्रति पंक्तियों का खड़ी बोली में अनुवाद करने वाले को प्रति पंक्ति एक रुपए देने की घोषणा कर रखी थी। उन्होंने अपने हमनाम रिश्तेदार अयोध्या प्रसाद भंडारी से गीता का खड़ी बोली में अनुवाद करवाया। खत्रीजी ब्राह्मण टोली में रहते थे जिस कारण ब्राह्मणों के बीच गहरी पैठ थी। वे सत्यनारायण की कथा वाचने वाले पंडितों को खड़ी बोली में कथा वाचने के लिए एक वाचन का दस रुपए देते। सरस्वती ने अपने एक अंक में लिखा कि 'हिन्दी भाषा की उन्नति हेतु उन्होंने इतना द्रव्य खर्च किया जितना राजा-महाराजाओं ने नहीं किया'।

पर्व-त्योहार में उनके पास आने वाले पुरोहितों की भाषागत भूल या गलत उच्चारण दोष बताने से नहीं चूकते।

वे जिससे मिलते 'जय हिन्दी' कहते हुए पूछते- "कोई नई लिटरेरी न्यूज है क्या ?"

हिन्दी जगत में क्या चल रहा, उसकी अद्यतन जानकारी के लिए उतावले रहते। खड़ी बोली कविता के विरोधियों से शास्त्रार्थ करने धमक जाते। हठी और आलोचकीय स्वभाव के कारण वे सदा विवादों से घिरे रहते। इसी कारण काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सदस्य और अपने पड़ोसी मित्र-लेखक श्रीनारायण पाण्डेय की किताब 'काल निर्णय' की तीखी आलोचना के कारण उन्हें मानहानि का मुकदमा भी झेलना पड़ा। यह हिन्दी साहित्य जगत की पहली साहित्यिक मानहानि की घटना थी।

1904 में मुजफ्फरपुर इलाके में भयंकर प्लेग का आक्रमण हुआ जिसके संक्रमण से 15 दिसंबर 1904 को खत्री जी की पत्नी का देहांत हो गया। पत्नी का वियोग, पीठिया रोग और प्लेग की चपेट में आने के कारण खत्री जी भी खड़ी बोली हिन्दी कविता को मुस्कुराता छोड़ सदा के लिए बुधवार के दिन 4 जनवरी 1905 को रात 9 बजे दुनिया से कूच कर गए। उनकी मृत्यु की सूचना सर्वप्रथम उनके प्रतिद्वंद्वी श्रीनारायण पाण्डेय ने 'बिहार बन्धु' के माध्यम से दी- "हा ! कराल काल ने इस विकराल प्लेग के सहारे कैसे-कैसे अमूल्य रत्नों को इस छोटे से नगर मोजफ्फरपुर से हटा लिया। हिन्दी वेत्ताओं की मंडली में कम ही ऐसे लोग होंगे जो 'खड़ी बोली' के प्रतिपालक मोजफ्फरपुर निवासी बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री को न जानते हों ! ...." (बिहार बन्धु, 1 मार्च 1905)।

'सरस्वती' ने अपने मार्च 1905 अंक में लिखा – "प्यारे पाठकों ! हिन्दी के परम भक्त, अनन्य प्रेमी, सच्चे दास, योग्य सुपुत्र, जिन्होंने अपनी माता हिन्दी की सेवा अनेक विपत्तियाँ झेलने पर भी अपने अंतिम दिन तक अचल प्रेम और नि:स्वार्थ भाव से की- वही बाबू अयोध्या प्रसाद, वही हिन्दी के रत्न, वही आपके मित्र, अब इस असार संसार में नहीं हैं ! जिन्होंने हिन्दी की उन्नति के हेतु अपना सर्वस्व- तन, मन और धन-अर्पण कर दिया था; जिन्होंने अनेक कटु वचन सुनने पर भी अपने जीवन के प्रधान उद्देश्य खड़ी बोली में पद्य बनाने के आंदोलन को नहीं छोड़ा; जिन्होंने सहस्त्रों रुपये खर्च हो जाने पर भी हिन्दी की उन्नति के हेतु किसी कार्य से मुँह नहीं मोड़ा; वही बाबू अयोध्या प्रसाद आज हिन्दी को अनाथ कर, खड़ी बोली के पद्य को अपने मित्रों की सहायता तथा सहानुभूति पर छोड़कर, अपने मित्रों को शोक-सागर में डुबोकर, 4 जनवरी 1905, को बाबू हरिश्चन्द्र, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, और व्यास जी आदि मित्रों की मंडली में जा मिले।"

काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने 1905 के वार्षिक प्रतिवेदन में शोक व्यक्त किया – "बाबू अयोध्या प्रसाद जी नाम हिन्दी के इतिहास में सदा बना रहेगा। हिन्दी के एक बड़े अभाव की पूर्ति के लिए इन्होंने अपना जीवन दे रक्खा था और अवसर अनवसर सब अवस्था में तन, मन और धन से अपने उद्देश्य की सफलता में ये सदा लगे रहते थे। जब कभी आधुनिक हिन्दी का इतिहास लिखा जायगा बाबू अयोध्या प्रसाद के उद्योग की सराहना सबसे पहिले अवश्य की जायगी।"

'समालोचक' मासिक पत्र के अगस्त 1905 ई. के अंक में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने लिखा – "...वह परोपकारी और हिन्दी भाषा के हित चिन्तन का व्रती मनुष्य अब इस लोक में नहीं है। चाहे उन्हें उनके प्रकारों से लोगों का विरोध रहा हो, परन्तु वर्तमान युग में बिहार में क्या हिन्दी भाषा के देशभर में ऐसा तीव्र, सत्समालोचक और उदार देशसेवक विरला ही मिलेगा। उनने जो कुछ किया, उसमें हिन्दी की हित कामना भरी हुई थी।"

अयोध्या प्रसाद खत्री की बदौलत खड़ी बोली हिन्दी कविता आज अपने शिखर पर है लेकिन खत्री जी के योगदान का सही मूल्यांकन बाद की पीढ़ी ने भी नहीं किया। मुजफ्फरपुर जैसे कस्बाई शहर से काव्य-भाषा का ऐसा अनोखा आंदोलन करने वाले इस शख़्स पर आज तक बिहार तो क्या, मुजफ्फरपुर के भी विश्वविद्यालय

में कोई शोध का काम नहीं हुआ। हुआ भी तो जेएनयू में।

एक सवाल यहाँ यह भी उठता है कि 1886 से 1900 तक का काल अयोध्या प्रसाद खत्री और कालजयी उपन्यासकार देवकीनन्दन खत्री का काल है। इसे 'खत्री-काल' के रूप में रेखांकित क्यों नहीं किया गया? किया जाना चाहिए था। 1850 से 1900 तक का काल भी भारतेन्दु (1850-1885) के नाम पर क्यों समेटा गया? जबकि उनकी मृत्यु 1885 में ही हो चुकी थी !

**खत्री जी की पुस्तकें :**

1. 'संस्कृत जनित यावनी शब्द संग्रह'
2. 'हिन्दी व्याकरण' (1877)
3. 'मौलवी स्टाइल की हिन्दी का छन्द भेद' (1887)
4. 'मौलवी साहब का साहित्य' (1887)
5. 'खड़ी बोली का पद्य, पहिला भाग' (1887)
6. 'खड़ी बोली का पद्य' (लंदन संस्करण, सं. फ्रेडरिक पिन्काट) (1888)
7. 'खड़ी बोली का पद्य, दूसरा भाग' (1889)
8. 'खड़ी बोली आंदोलन' (संपादक : पं. भुनेश्वर मिश्र)
9. 'छोटी-छोटी बातों में नुक्ताचीनी'

**खत्री जी पर अन्य पुस्तकें :**

1. अयोध्या प्रसाद खत्री स्मारक ग्रन्थ, बिहार राष्ट्रभाषा, पटना (1960)
2. अयोध्या प्रसाद खत्री, मोनोग्राफ, साहित्य अकादमी (2003)
3. स्मृति-ग्रंथ, अयोध्या प्रसाद खत्री (2007)
4. खड़ी बोली का पद्य, अयोध्या प्रसाद खत्री, दोनों भाग (संपादक: वीरेन नंदा) अनामिका पब्लिशर, दिल्ली (2008)

❑❑❑

# हम गुलामी की अंतिम हदों तक लड़ेंगे[1]

## (गुलामी की पीड़ा और दायिङ्ग पाओ का उपन्यास 'आखिर कब तक')

❍ अभिषेक कुमार यादव✡

अरुणाचल प्रदेश के जनजातीय रचनाकारों द्वारा रचे गए समग्र हिन्दी साहित्य को देखें तो यह सुखद आश्चर्य होता है कि यहाँ लेखन की शुरुआत उपन्यास विधा से हुई। इस लेख-माला के प्रारम्भिक लेखों में ही कहा गया है कि अरुणाचल प्रदेश पारंपरिक रूप से हिन्दी भाषा और लेखन का प्रदेश नहीं रहा है। यहाँ के जनजातीय समाज के लोगों ने विभिन्न माध्यमों से हिन्दी सीखी है। औपचारिक और अनौपचारिक दोनों ही तरीकों से यहाँ एक संपर्क भाषा के रूप में हिन्दी का विकास हुआ है। विद्यालय, विश्वविद्यालय और अध्ययन-अध्यापन जैसे औपचारिक माध्यमों की बजाय अरुणाचल प्रदेश के लोगों ने सिनेमा, रेडियो, हिन्दी गानों, हिन्दी पट्टी के लोगों, व्यापारियों और सैनिकों से बातचीत आदि के अनौपचारिक माध्यमों से ज्यादा हिन्दी सीखी है। औपचारिक माध्यमों की एक सीमा होती है। उन तक पहुँचने के लिए एक व्यवस्थित तंत्र की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत अनौपचारिक माध्यमों की पहुँच ज्यादा होती है। लोगों की पहुँच भी उन तक आसान होती है। अरुणाचल प्रदेश के रचनाकारों में दोनों ही तरह के लोग हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं जिन्होंने अनौपचारिक माध्यमों से हिन्दी सीख कर हिन्दी में रचनाकर्म किया है, वहीं दूसरी तरफ ऐसे भी रचनाकार हैं जिन्होंने औपचारिक तरीके से हिन्दी सीख कर यानी की हिन्दी भाषा और साहित्य की औपचारिक पढ़ाई करके हिन्दी में रचनाकर्म किया है। इस कारण उनकी भाषा और अभिव्यक्ति में भी अंतर दिखाई देता है।

अरुणाचल प्रदेश में उपन्यास विधा में हुई विपुल रचना-धर्मिता एक प्रश्न यह खड़ा करती है कि आखिर क्या कारण है कि एक अपेक्षाकृत जटिल और कठिन मानी जाने वाली साहित्यिक विधा को इन लेखकों ने अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए सबसे ज्यादा पसंद किया। मेरी समझ से इसका सूत्र इन जनजातीय समाजों के लोक-साहित्य की परंपरा में छुपा हुआ है। इन समाजों में कथाओं के साथ ही गाथाओं की भी एक समृद्ध परंपरा रही है। इन गाथाओं की मूल कथा बहुत लंबी होती हैं और कई दिनों तक टुकड़ों-टुकड़ों में कही जाती है। इसके अलावा यदि हम ध्यान से तानी समुदाय में उनके आदि पुरुष तानी से संबंधित मान्यताओं और कहानियों को देखें तो हमें इस प्रश्न के उत्तर का एक सिरा मिल जाएगा। तानी से संबंधित ये लोक-कथाएँ बहुत सारी होते हुए भी आपस में एक महीन धागे से जुड़ी हुई हैं। तानी के जीवन में हुई अनेक घटनाएँ जो कि बहुत

---

✡ *असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजीव गांधी विश्वविद्यालय, अरुणाचल प्रदेश; पूर्व फेलो, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला।*

भिन्न-भिन्न प्रकृति की हैं, उनको बताने वाली ये कहानियाँ इस अर्थ में एक-दूसरे से गहरे तक जुड़ी हुई हैं कि वे एक ही जीवन में घटित हो रही हैं। उनका काल अलग है लेकिन उनका भोक्ता एक ही जीवन है। फिर अनेक लोग हैं जो उस जीवन यानी कि तानी के जीवन से संबंधित हैं। ये सारी कहानियाँ एक लंबा वितान रचती हैं। एक-दूसरे से गुथीं हुई कहानियों का एक भरा-पूरा संसार है वहाँ। इसका अर्थ यह हुआ कि बहुत विस्तृत कथानक की साहित्यिक चेतना इन समाजों में मौजूद रही है। शायद यही वह भाव-भूमि है जिसके कारण इन लेखकों को उपन्यास लिखने में ज्यादा सहूलियत हुई होगी। मेरे कहने का तात्पर्य यह कतई नहीं है कि एक आधुनिक विधा के रूप में उपन्यास की एकमात्र विशेषता विस्तृत कथानक ही है। मेरा बस यह कहना है कि लोक-साहित्य की परंपरा में निर्मित मानस के कारण इन रचनाकारों के लिए उपन्यास विधा ज्यादा सहूलियत वाली लगी है। यह बात अधिकांश समाजों पर समान रूप से लागू होती है।

दायिङ्ग पाओ का उपन्यास 'आखिर कब तक' इस मामले में अन्य अरुणाचली हिन्दी की रचनाओं से भिन्न है कि यह एक ऐसी समस्या पर केन्द्रित है जिस पर किसी अन्य अरुणाचली रचनाकार ने अब तक खुल कर नहीं लिखा है। यह समस्या है- गुलामी की समस्या। मैंने पहले के लेखों में ही तफसील से जनजातीय समाजों के बारे में लिखा है। उस विश्लेषण से हम इस बात का अंदाजा भी नहीं लगा सकते कि इन जनजातीय समाजों में गुलामी की भी कोई समस्या होगी। इसका कारण क्या है...? इसका कारण यह है कि इन रचनाओं में मुख्यत: एक ही जनजातीय समाज के बारे में वर्णन मिलता है। 'जंगली फूल' इसका अपवाद है लेकिन वहाँ भी मुख्य जनजातियों को ही आधार बनाया गया है।

गुलामी का यह मसला अरुणाचल प्रदेश के जनजातीय समाज को ऊपरी तौर पर देखने से कतई पता नहीं चलता है। बिना उस जनजाति की तहों में गए, आप इस बात का पता भी नहीं लगा सकते। मैंने पहले के लेखों में वेरियर एल्विन का साक्ष्य देते हुए बताया है कि पुरोइक या सुलुंग जनजाति, न्यीशी जनजाति की गुलाम जनजाति मानी जाती है।[2] सबसे अधिक संभावना यह है कि अतीत में हुए किसी युद्ध या जबरन किए गए किसी समझौते के माध्यम से न्यीशी लोगों ने सुलुंग लोगों को अपना गुलाम घोषित कर दिया। अब पीढ़ियों से यह परंपरा चलती आ रही है। सुलुंग सामान्य तौर पर सबसे ऊँचाई पर दुर्गम पहाड़ों में रहते हैं। हर सुलुंग परिवार का कोई एक तय मालिक परिवार है। यह बात दोनों परिवारों के लोग जानते हैं और पालन करते हैं। सुलुंग, फसलों को लगाने के समय पहाड़ों से उतर कर अपने मालिक परिवार के पास आ जाते हैं और वहाँ रहकर खेती के काम में अपने मालिक परिवार की मदद करते हैं। बाद में मालिक से कुछ अनाज और मांस लेकर फिर वापस चले जाते हैं। यह एक अनवरत चल रहा क्रम है। आज भी सबसे कम सुविधा प्राप्त और सरकारी व्यवस्था और नौकरियों में सबसे कम संख्या में सुलुंग ही हैं। इसके अलावा भी गुलाम बनने और बनाने के कुछ और कारण हैं। अगर किसी बच्चे के माता-पिता की मृत्यु हो गई है और उसके बाकी परिवार वाले उसका पालन-पोषण नहीं करना चाहते हैं तो वे एक मूल्य लेकर किसी सम्पन्न व्यक्ति के हाथ उसे बेच देते हैं। अब यह बच्चा उस सम्पन्न परिवार का गुलाम हो जाता है और यह गुलामी केवल उसी तक सीमित नहीं रहती है बल्कि यह उसकी पीढ़ियों तक जाती है। इसके अतिरिक्त किसी मुश्किल समय में रक्षा करने वाला या किसी अन्य कठिन परिस्थिति मसलन अकाल आदि में मदद करने वाला कोई व्यक्ति अगर चाहे तो, सहायता पाने वाले के परिवार या समूह या वंश से अपनी गुलामी स्वीकार करवा लेता है।

ऐसे गुलामों के जीवन पर हिन्दी में लिखी गई यह अरुणाचल प्रदेश की अकेली रचना है। इसके अतिरिक्त जोराम यालाम ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में इसका जिक्र किया है। उनकी कुछ कहानियों में इसका जिक्र मिलता है कि जनजातीय समाजों में या एक ही समाज के विभिन्न वंशों में हुए आपसी युद्ध में पराजित

लोगों को गुलाम बना लिया जाता है। लेकिन वे केवल इस तरह का इशारा करके रह जाती हैं जबकि यह रचना इसी बात को अपना केंद्र बनाती है।

उपन्यास का कथानक बहुत सरल सा लेकिन बहुत मार्मिक है। कथा कहने का अंदाज इस तरह का है कि इसमें औपन्यासिक कला खोजने वाले पाठक को निराशा भी हो सकती है। लेखक ने बहुत ही सपाट अंदाज में पूरी कथा कह दी है। एक सीधा सा आख्यान है और इसमें किसी तरह का कोई स्तरीकरण नहीं है। यह दो गुलाम परिवारों की कथा है। एक परिवार गोगो का है जो कसान के परिवार का गुलाम है। कसान और उसका बेटा टाईगार अपने गुलाम गोगो के परिवार पर बहुत जुल्म करते हैं। गोगो का पूरा परिवार न सिर्फ अपनी जीविका के लिए बल्कि अपने जीवन के लिए भी पूरी तरह कसान के परिवार पर निर्भर है। उनके पास ठीक से खाने-पहनने के लिए भी कुछ नहीं होता है। यह परिवार कसान के परिवार का गुलाम इसलिए हो गया था क्योंकि कसान के दादा ने शिकार के समय शेर के हमले के दौरान गोगो के दादा की जान बचाई थी। गोगो का बेटा तादे इस गुलामी से मुक्ति के सपने देखता है लेकिन कसान और टाईगार के अत्याचार के आगे पूरा परिवार मजबूर हो जाता है। अपने मालिक के अत्याचारों से तंग आकर एक दिन तादे जंगल में भाग जाता है। कसान और उसका बेटा इस बात से इस कदर क्रोधित हो जाते हैं कि वे गोगो का पूरा परिवार ही खत्म कर देते हैं। इससे भी उन्हें संतोष नहीं होता है तो वे तादे को खोजने के लिए जंगल में जाते हैं।

उधर तादे को जंगल में एक लड़की मिलती है। वह भी गुलाम थी और अपने मालिक के अत्याचारों से तंग आकर वह भी जंगल में भाग आई है। उसका नाम यापि है। अब उपन्यास की कथा फ्लैश-बैक में जाती है और यापि, तादे को अपनी व्यथा-कथा सुनाती है। उसके पिता की बीमारी से मौत हो जाती है। उसी गम में उसकी माँ नेली भी चल बसती है। एक दिन उसका बूढ़ा मालिक तातुम उसके साथ जबरन यौन संबंध बनाना चाहता है। वह उसे धक्का दे देती है और वह गिरकर घायल हो जाता है। आपि भी डरकर जंगल में भाग जाती है जहाँ उसकी मुलाकात तादे से होती है। कुछ दिन वे साथ रहते हैं। उनमें प्रेम हो जाता है और शारीरिक संबंध भी बनता है। कुछ दिन तो जंगल में कट जाते हैं लेकिन दोनों को खोजने वाले टाईगार और तातुम के लोग उनको पकड़ लेते हैं और एक खूनी संघर्ष में दोनों मारे जाते हैं।

उपन्यास उनकी मृत्यु के साथ ही खत्म हो जाता है। गुलामी की इस क्रूर प्रथा का एक मार्मिक दस्तावेज है यह उपन्यास। गुलामों के जीवन के इस मार्मिक वर्णन के अतिरिक्त इसमें दो-तीन ऐसी बातें हैं जिनके जिक्र के बिना इस बात को पूरी तरह समझा नहीं जा सकता। पहली बात यह है कि जब कसान, टाईगार और तातुम के लोग तादे और आपि पर हमला करते हैं तो तादे इन तीनों के साथ आए उनके गुलामों को ललकारता है कि हम सब इनके गुलाम हैं और ये हम सबको एक-दूसरे से लड़ाकर अपना काम निकाल रहे हैं। हम सबको मिलकर इन अत्याचारी मालिकों को मार देना चाहिए और इस गुलामी के जीवन से निकल जाना चाहिए। उसकी इस बात का कोई असर अन्य गुलामों पर नहीं होता है। तादे कहता है कि इन मालिकों ने तुम्हारे दिमाग पर भी कब्जा कर लिया है।[3] हमारे पास आजाद होने का यह एक सुनहरा मौका है। लेकिन इतने सब के बावजूद गुलाम, मालिकों का साथ देते हैं और तादे और आपि को मार डालते हैं। यहाँ यह बहुत महत्वपूर्ण बात है कि स्वतन्त्रता की अदम्य चाह ने तादे के अंदर एक मुक्त-चेतना का प्रवाह कर दिया था। वह एक बराबरी और बंधुत्व की दुनिया का सपना देखने लगा था। वह अपने भौतिक जीवन को नहीं बचा पाया लेकिन उसकी यह चेतना उसके साथ नहीं मरी। उसके मालिक उसके भौतिक शरीर को मार सके लेकिन वे उसकी इस मुक्तिकामी चेतना का प्रवाह नहीं रोक सकते थे। यह चेतना तादे और उपन्यास दोनों को बहुत महत्वपूर्ण बना देती है। साथ ही यह इस बात को भी इंगित करती है कि किसी भी प्रकार की गुलामी तभी कायम रह पाती है जब वह

केवल भौतिक स्तर पर ही न रहे बल्कि मानसिक स्तर पर भी रहे। रोम की महानता से लेकर भारतीय जाति व्यवस्था तक गुलामी का यह समूचा कारोबार इसीलिए सफल हो सका है क्योंकि इसने केवल गुलामों को भौतिक रूप से ही कैद नहीं किया बल्कि कहानियाँ, मिथक और देवताओं का निर्माण करके उनको मानसिक तौर पर भी गुलाम बनाया। इसीलिए यह घृणित व्यवस्था किसी न किसी रूप में आज तक कायम है।

दूसरी बात है तादे का कानून और सरकार में भरोसा। वह आपि से कहता है कि मैंने सुना है कि इन पहाड़ों से बाहर मैदानों में कानून और सरकार नाम के दो लोग रहते हैं। सरकार सबको खाना देती हैं और कानून कहता है कि कोई भी मालिक नहीं है और कोई भी गुलाम नहीं है। सब बराबर हैं। मैं उन दोनों के पास जाना चाहता हूँ। वह आपि से यह भी कहता है कि यदि मैं मर गया तो तुम उस मैदान तक जरूर पहुँचना और वहाँ वे दोनों तुम्हारी मदद करेंगे। वे और आपि यह सपना देखते हैं कि उस मैदान में पहुँचने के बाद कानून और सरकार की कृपा से वे गुलाम नहीं रहेंगे और उनका बच्चा आजादी के माहौल में जन्म लेगा। उसके मन में यह अदम्य इच्छा है कि उसका बच्चा नए समाज की रौशनी में पलेगा और बढ़ेगा तथा शिक्षा प्राप्त करेगा। अब यहाँ यह देखना बहुत महत्वपूर्ण है कि इसी कानून और सरकार के प्रति मैदान के लोगों का क्या अनुभव है। यहाँ तथाकथित मुख्यधारा और उसकी परिधि पर रहने वाले लोगों की आकांक्षाओं और उनके देखने के तरीके के फर्क का पता चलता है।

तीसरी बात इसी बात से जुड़ी हुई है। इस उपन्यास में एक पात्र है 'सिंधिया'। यह पात्र अरुणाचल प्रदेश का रहने वाला नहीं है। वह गंगा के मैदानों में कहीं का रहने वाला है और उसके नाम (जो कि असल में उसके नाम को नहीं बल्कि उसकी जाति या समूह को द्योतित करता है।) से पता चलता है कि वह ब्राह्मण धर्म की जाति व्यवस्था में 'ऊंची जातियों' से ताल्लुक रखता है। सिंधिया, कसान का दोस्त है। अरुणाचल प्रदेश में वह लकड़ी का कारोबार करता है। वह कसान से बार-बार यह कहता है कि अपने गुलामों के साथ बुरा व्यवहार मत करो। वह अपने समाज की तारीफ में कहता है कि हमारे यहाँ गुलाम नहीं होते हैं। वहाँ सबको बराबर अधिकार प्राप्त हैं। कसान उससे कहता है कि अगर उसके यहाँ गुलाम नहीं होते हैं तो उनकी खेती तथा अन्य काम कौन करता है। सिंधिया कहता है कि ये सब काम हम खुद करते हैं। हमारे यहाँ सबको पढ़ने-लिखने का समान अधिकार मिला हुआ है। सिंधिया, अपने यानि कि तथाकथित मुख्यधारा के मैदानी समाज की जो तस्वीर खींचता है, वह एक स्तर पर बिल्कुल भिन्न है। सिंधिया के माध्यम से लेखक ने यह जो वर्णन किया है, वह यथास्थिति और सच्चाई से दूर एक बेहद रोमांटिक वर्णन है। यह वर्णन मैदानी समाज में व्याप्त भयंकर भेद-भाव, गरीबी और जाति-व्यवस्था को न सिर्फ गायब कर देता है बल्कि समानता पर आधारित समाज का एक झूठा चित्र भी प्रस्तुत करता है। सिंधिया का समाज भी एक दूसरे प्रकार की गुलामी से ग्रस्त है लेकिन सिंधिया चूंकि उस व्यवस्था में ऊपर बैठा है इसीलिए उसे सब कुछ 'अच्छा' ही दिखता है। ध्यान से देखें तो सिंधिया और कसान असल में एक ही दृष्टिकोण से दुनिया को देख रहे हैं। कसान को अपने समाज में व्याप्त बुराई नहीं दिखती है और सिंधिया को अपने समाज में व्यापी बुराई नहीं दिखती है। बस उनकी भौगोलिक स्थिति का फर्क है। वे दोनों ही अपने-अपने समाजों को ताकतवर समूह के सदस्य की निगाह से देख रहे हैं।

प्रथम दृष्टया यह लगता है कि सिंधिया की बात और तादे का मैदानों में रहने वाले कानून और सरकार के बारे में ख्याल एक जैसे हैं लेकिन यह सच नहीं है। सिंधिया और तादे की स्थिति भिन्न है। सिंधिया उस सरकार, कानून, समाज, बराबरी और समानता के दावों की सच्चाई जानता है लेकिन वह उस सच्चाई को छुपाता है और खुद उससे छुपता है। ऐसा वह इसलिए करता है क्योंकि वह उस समाज में एक ऐसी स्थिति में है जिसमें उसके यथास्थितिवादी होने से ही उसका लाभ होगा क्योंकि वह उसी व्यवस्था में लाभ के पाले में है। इसके

विपरीत तादे ने उस मैदानी समाज, कानून, सरकार और व्यवस्था का कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया है। उसने बस उसके बारे में और उसके द्वारा किए गए दावों के बारे में सुना भर है। उन दावों ने, जिनका उसने कभी प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया, उसके भीतर मुक्ति की एक चाहत पैदा की है। जबकि सिंधिया उन दावों से खूब दो-चार हुआ है। फिर भी जिस आसानी से वह उन दावों को सच बताता है, उससे यही पता चलता है कि वह धूर्तता में यह सब कर रहा है।

एक बात जो अरुणाचल प्रदेश में लिखे हिन्दी के कई उपन्यासों में सामान्य रूप से प्रभावी है, वह है संपन्नता। जनजातीय समाजों में संपन्नता का भिन्न अर्थ होता है। पूंजीवादी समाज में पूंजी पर एक वर्ग का अधिकार होता है और यह पूंजी लगातार और भी ज्यादा पूंजी के संग्रहण में लगी होती है। यह मुनाफा और लगातार गलाकाट मुनाफा पर केन्द्रित व्यवस्था होती है। जनजातीय समाजों में संपन्नता का पैमाना इस तरह का नहीं होता है। इन समाजों में कुछ संपत्ति तो सामुदायिक होती है। इसके अलावा व्यक्तिगत संपत्ति भी होती है लेकिन वह किसी वंश या रक्त संबंध के लोगों की होती है। यह संपत्ति जमीन, पशुओं, पारंपरिक आभूषणों आदि के रूप में होती है। जिस वंश के लोगों के पास उर्वर भूमि होती है, वहाँ फसलों की पैदावार अच्छी होती है। एक ऐसी भौतिक परिस्थिति में जहां खेती और शिकार ही जीविका और जीवन का मुख्य आधार हो, वहाँ उर्वर भूमि और शिकार से भरे जंगल या पहाड़ पर नियंत्रण ही ताकत का आधार होते हैं। जनजातीय समाजों में वंशों की श्रेष्ठता का निर्धारण उनकी संपत्ति से नहीं होता है बल्कि वह उनकी वंश-परंपरा से होता है। लेकिन भौतिक जीवन में उन वंशों का सामाजिक महत्व कम हो जाता है जिनके पास खेती की अच्छी जमीन नहीं होती है या वे आर्थिक रूप से कमजोर होते हैं। जुमसी सिराम के उपन्यास 'मेरी आवाज सुनो' में आलुक आर्थिक रूप से कमजोर वंश परंपरा से ताल्लुक रखता है। तुंबम रीबा जोमो 'लिली' के उपन्यास 'उस रात की सुबह' में तातो बहुत ही सम्पन्न परिवार से संबंध रखता है इसीलिए तीन-तीन शादियाँ करता है। बुढ़ापे में भी एक शादी करने का इच्छुक होता है। लोग और समाज भी उसको सम्मान देते हैं। 'आखिर कब तक' में तो गोगो का पूरा परिवार ही आर्थिक विपन्नता और सामाजिक अवहेलना का शिकार होता है। 'मेरी आवाज सुनो' का नायक आलुक अपने जीवन-यापन के लिए आलो शहर में मजदूरी करता है। वह शहर में रहने वाले अधिकारियों के लिए नदी से पानी ढोकर लाता है और उसके बदले में मिले पैसों से गुजारा करता है। एक तरह से वह मजदूर बन जाता है।

मजदूर की जो अवधारणा तथाकथित मुख्यधारा के समाजों में होती है वह जनजातीय समाजों में ना के बराबर होती है। वहाँ काम करने की सामूहिक परंपरा होती है। इसे समझने के लिए दो-तीन और बातें भी समझनी जरूरी हैं। ये समाज, भौगोलिकता और जनसंख्या से जुड़ी हुई बातें हैं। हम जनजातीय समाजों को समझने के लिए अक्सर कुछ विशिष्ट तरीके ईजाद करने की कोशिश करते हैं जबकि उनकी आवश्यकता नहीं होती है। कुछ बातें केवल व्यवहार और भौतिक परिस्थितियों से समझी जा सकती हैं। अरुणाचल प्रदेश का भौगोलिक क्षेत्रफल बहुत ज्यादा है जबकि उसकी आबादी महज दस-बारह लाख है। भारत में प्रति वर्ग किलोमीटर सबसे कम आबादी अरुणाचल प्रदेश की है। तानी लोगों में सबसे ज्यादा जमीन न्यीशी जनजाति के पास है तो सबसे कम जमीन आपातानी जनजाति के पास है। जमीन की अधिकता आबादी को दूर-दूर कर देती है। जनसंख्या की कमी वंश और गोत्र की पहचान को सहज और मजबूत बनाती है। यदि जनसंख्या ज्यादा हो जाएगी, जैसा कि मैदानों में होता है तो यह पहचान थोड़ी व्यापक हो जाती है और इसमें कई लोग शामिल हो जाते हैं लेकिन जनजातीय समाजों में इनकी पहचान भी आसान होती है और इस पहचान को कायम रखते हुए जीवन-यापन करना भी आसान होता है। अब समाज की बात, हम सामान्य तौर पर एक जनजाति को एक इकाई मानकर चलते हैं। यह बिल्कुल ही गलत समझ है। एक ही जनजाति में कई गोत्र या वंश परंपरा के लोग होते हैं। जिन

वंशों का आपसी संबंध होता है, वे एक बड़े समूह के रूप में जनजाति के रूप में दिखते हैं। इसका एक उदाहरण देता हूँ। तानी एक बहुत व्यापक समूह का नाम है जिसमें पाँच जनजातियाँ आती हैं। अब इन जनजातियों में भी कई वंशों के लोग हैं, जैसे न्यीशी जनजाति में नाबाम, बालो, रे, ताबा, तादो, ताना आदि। लोग वंश के अंदर शादियाँ नहीं करते हैं। यह बहुत ही अनिवार्य नियम है। खैर, तो गाँव मूलतः एक ही गोत्र या वंश के लोगों की बसाहट होता है। ऐसे में यह मान्य नहीं है कि कोई एक परिवार या उसका व्यक्ति उसी गाँव के किसी दूसरे परिवार के यहाँ नौकर हो। नौकर का सीधा अर्थ समझा जाय। एक ऐसा व्यक्ति जिसे उसके श्रम के बदले में कुछ पारिश्रमिक दिया जाय। वह एक 'अन्य' होता है जो केवल अपनी आजीविका के लिए अपने श्रम को बेचता है और उसका मूल्य किसी न किसी रूप में पाता है या पाने का आकांक्षी होता है। अब जबकि वहाँ एक ही गोत्र के लोग हैं तो उनमें कोई भी 'अन्य' नहीं होता है। इसीलिए कोई किसी के खेत में मजदूरी नहीं करता है बल्कि बारी-बारी से सभी गाँव वाले सबके खेतों पर काम कर देते हैं। किसका काम पहले होगा और किसका बाद में होगा, इसमें थोड़ा भेद हो सकता है। खेती और शिकार ही जीविका के मुख्य साधन हैं और दोनों ही सामूहिक रूप से किए जाते हैं। घर बनाना या कोई और काम जिसमें ज्यादा लोगों की आवश्यकता होती है, वह सामूहिक रूप से कर लिया जाता है। लेकिन ये सारी बातें एक ही वंश परंपरा या समान वंश परंपरा के लोगों पर लागू होती है। जिन लोगों को हराकर गुलाम बनाया गया है या फिर किसी और कारण से जिन्हें गुलाम बनाया गया है, उन पर यह सामूहिकता का भाव और व्यवहार काम नहीं करता है।

इस तरह के समाज में जब नई व्यवस्था आती है तो वह अपने साथ कई तरह की चीजों को लेकर आती है। यह नई व्यवस्था एक तरफ सभी नागरिकों में समानता का वादा करती है तो दूसरी तरफ उसकी संरचना में ही भेदभाव व्याप्त होता है। अपने आंतरिक अंतर्विरोधों से भरी यह व्यवस्था जब किसी जनजातीय समाज में पहुँचती है तो यह अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करना चाहती है। उधर जनजातीय समाज के भी अपने अंतर्विरोध हैं। वहाँ जीवन कठिन है लेकिन सामाजिक और प्रशासनिक व्यवस्था मजबूत है पर जटिल नहीं है। चूंकि नई व्यवस्था ज्यादा ताकतवर है और उसने अपनी वैधानिक मान्यता भी खुद से ही घोषित कर रखी है तो यह निश्चित है कि इसके कारण जनजातीय समाजों में संक्रमण का दौर शुरू होता है।

'आखिर कब तक' का केंद्रीय विषय जरूर गुलामी की प्रथा है लेकिन वहाँ भी इस संपन्नता-विपन्नता की मार्मिक गाथा मौजूद है। भूख और ईलाज के अभाव में गुलामों के परिवारों के कई लोग मर जाते हैं। गुलाम गोगो के परिवार की स्थिति का वर्णन करते हुए लेखक लिखता है कि "बेचारी आरी खुद भी तो जिंदा लाश है। न भरपेट खाना, न पूरी नींद, न ही जवान शरीर को पूरी तरह ढकने का वस्त्र। वाह रे गरीबी! कितने रूप हैं तेरे?"[4]।

कहना यह है कि इस रचना में गरीबी भी एक केंद्रीय समस्या के रूप में सामने आती है। विवाह की जड़ परम्पराओं के कायम रह जाने का एक कारण यह गरीबी भी है। संपन्नता की हनक और विपन्नता की विवशता इस लेन-देन की विवाह प्रथा को जीवित रखने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

दायिङ्ग पाओ ने हिन्दी की औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं की है। इस उपन्यास में औपन्यासिक कसाव का अभाव दिखता है। ऐसा लगता है कि जैसे इसके कथा-सूत्रों को ताना जा रहा है। एक बात जो कम शब्दों में बयान हो सकती थी या उसके लिए कम दृश्यों की आवश्यकता थी, उसे लंबा कर दिया गया है। हालांकि दायिङ्ग पाओ की रचनात्मकता बिल्कुल नैसर्गिक है। उन्होंने उपन्यास विधा की विशेषताओं की कोई पढ़ाई नहीं की है। गठन का यह अभाव इस रचना की लय को प्रभावित करता है। हालांकि कथा की नवीनता कुछ हद तक उसे पूरा भी करती है।

इस उपन्यास की भाषा पर हिन्दी फिल्मों और हिन्दी धारावाहिकों के संवादों का बहुत प्रभाव दिखता है। कहने का अर्थ यह है कि इस उपन्यास के संवाद बहुत बार कृत्रिम लगने लगते हैं। असल में अरुणाचल प्रदेश का जनजातीय समाज हिन्दी समाज से बिल्कुल भिन्न है। जीवन की विभिन्न स्थितियों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया भी अलग होती है। भाषा के प्रयोग और अभिव्यक्ति में भी भिन्नता होती है। ऐसे में जब कोई पात्र किसी हिन्दी पट्टी के पात्र या किसी हिन्दी फिल्म के पात्र की तरह अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है तो पूरा दृश्य-बंध ही अस्वाभाविक लगने लगता है। तानी जनजातियों के लोक-धर्म या लोक-विश्वास का नाम है 'दोन्यि-पोलो'। 'दोन्यि' का अर्थ हुआ सूरज और 'पोलो' का अर्थ हुआ चंद्रमा। दोन्यि, आने है यानि की माँ है और पोलो यानि कि चंद्रमा पिता है। ऐसे में यह बिल्कुल भी स्वाभाविक नहीं लगता कि प्रेमी अपनी प्रेमिका को चंद्रमा कहे। यह उपमा असहज कर देती है। पात्रों का निर्माण उनके समाज में ही होता है। वहीं से पल्लवित होकर वे अपनी पाई हुई सीमा का अपने विवेक के बल पर अतिक्रमण करते हैं। लेकिन यहाँ इस तरह की बात भी नहीं दिखती है। चंद्रमा से स्त्री की सुंदरता की तुलना बहुत साफ तौर पर फारसी से आई हुई है जो हिन्दी फिल्मों से होते हुए यहाँ तक पहुंची है। दायिङ्ग पाओ के उपन्यास 'आखिर कब तक' में तादे अपनी प्रेमिका यापि की सुंदरता का बखान करते हुए उन्हीं उपमाओं का प्रयोग करता है, मसलन चाँद जैसी सुंदरता का। उनके बीच के प्रेम-पूर्ण संवाद का एक उदाहरण यहाँ देख सकते हैं। यापि जब तादे से पूछती है कि वह उससे कितना प्यार करता है तो तादे का जवाब बहुत रोचक है, "जितना मोर बादल से, मधु-मक्खी शहद से और साँसों का धड़कन से है, उतना मैं प्यार तुमसे करता हूँ"[5]। प्रेम के दृश्यों में या साधारण दृश्यों में लेखक की भाषा पर इस फिल्मी हिन्दी का प्रभाव दिखता है लेकिन जब कोई बहुत ही तनावपूर्ण स्थिति होती है तो भाषा बिल्कुल बदल जाती है। वहाँ लेखक बहुत ही नैसर्गिकता के साथ अपनी रचनात्मक लय को पा लेता है। उपन्यास में एक दृश्य है जिसमें कसान के लोग तादे को ढूँढने के क्रम में गोगो के पूरे परिवार की हत्या करने के बाद तादे को खोज लेते हैं। तब अपने आदमियों को ललकारते हुए कसान कहता है, "जाओ, इसके इतने टुकड़े कर दो कि इसके शरीर के टुकड़ों को एक-एक चींटी आराम से खाने के लिए उठा ले जा सके"[6]। यह भाषिक प्रयोग बताता है कि किसी से बदला लेने या किसी के साथ हिंसा करने की पराकाष्ठा क्या हो सकती है। यह भाषिक प्रयोग बिल्कुल ही स्वाभाविक लगता है। यह रचना अपनी शिल्पगत कमजोरियों के बावजूद कहानी और कहानी में उठाई गई समस्या की नवीनता के कारण अरुणाचली हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख कृति के रूप में उल्लेखनीय है।

**संदर्भ :**


1. हिन्दी के लोकप्रिय क्रांतिधर्मी कवि रमाशंकर यादव 'विद्रोही' की एक कविता की प्रसिद्ध पंक्ति। कवि 'विद्रोही' उत्तर प्रदेश के सुल्तानपुर जिले के रहने वाले थे। उनके प्रसिद्ध कविता-संग्रह का नाम है, 'नई खेती'।
2. वेरियर एल्विन की पुस्तक 'ए फिलॉसफी फॉर नेफा' के अध्याय 'सोशल ऐम इन नेफा' में उदाहरण सहित इसका जिक्र किया है। पृष्ठ 229 पर इसे देखा जा सकता है।
3. अंटोनियो ग्राम्शी के सिद्धांतों के आधार पर इसकी व्याख्या को समझा जा सकता है। इस संदर्भ में हावर्ड फास्ट के उपन्यास 'आदिविद्रोही' को भी देखा जा सकता है।
4. आखिर कब तक?- दायिङ्ग पाओ, रीना पाओ द्वारा प्रकाशित, अरुणाचल प्रदेश, 2010, पृ. 12.
5. आखिर कब तक?- दायिङ्ग पाओ, रीना पाओ द्वारा प्रकाशित, अरुणाचल प्रदेश, 2010, पृ. 65.
6. आखिर कब तक?- दायिङ्ग पाओ, रीना पाओ द्वारा प्रकाशित, अरुणाचल प्रदेश, 2010, पृ. 78.


❑❑❑

पुस्तक समीक्षा

# 'नक्शानामा' : काव्य विधा में अभिनव प्रयोग

○ राकेश कुमार द्विवेदी[✡]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 1903 ई. में जब 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन का भार संभाला तब हिन्दी में एक नये युग का आरम्भ हुआ जिसे उन्हीं के नाम पर 'द्विवेदी-युग' कहा जाता है। द्विवेदी जी सिद्धांत के बहुत पक्के इंसान थे। भाषा पर उनका जितना अगाध अधिकार था विषय की समझ और विश्लेषण की शक्ति भी उतनी ही गहरी थी। उन्होंने अपने युग के कवियों और लेखकों को प्रेरित (नये विषय पर लिखने के लिए) किया साथ-ही-साथ पत्रिका को नया कलेवर भी प्रदान किया। कविता के विषय-विस्तार के विषय में लिखा कि, "चींटी से लेकर हाथी पर्यंत, पशु से लेकर मनुष्य-पर्यंत तथा बूँद से लेकर समुद्र पर्यंत सभी पर कविता हो सकती है।" कहना न होगा कि उन्होंने न केवल कविता के बने-बनाये ढाँचे को तोड़ा बल्कि उसके संभावित विषयगत सभी वातायनों को भी खोल दिया।

'नक्शानामा' हिंदी कविता की दुनिया में विषय का एक ऐसा ही अभिनव प्रयोग है जिसके रचनाकार डॉ. सरफराज आलम हैं जो पेशे से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूगोल विभाग में प्रोफेसर हैं। भूगोल जैसे विषय पर अध्ययन-अध्यापन करते हुए जब उनके भीतर की काव्य-सर्जना ने कुछ लिखने के लिए बाध्य किया तो ऐसे में उन्होंने महावीर प्रसाद द्विवेदी के उक्त कथन के अनुकूल ही इसी भूगोल विषय को चुना। यह विषय हिंदी कविता के लिए न केवल, नया था, वरन जोखिमभरा भी था, पर उन्होंने इसे चुनौती के रूप में लिया जिसका सुफल यह 'नक्शानामा' है।

सेतु प्रकाशन प्रा.लि., नोएडा, उत्तर प्रदेश (2023) से प्रकाशित यह किताब 173 पृष्ठों की है जिसमें कुल 144 कविताओं ने स्थान पाया है। भूगोल विषय तो बहाना है इसके मूल में मनुष्य-समाज, उसकी बहुविध समस्याएँ और सरोकार हैं। समय के ज्वलंत प्रश्न हैं और रचनाकार की तरफ से उसका तार्किक उत्तर भी। इसकी संक्षिप्त भूमिका में उन्होंने संकेत करते हुए लिखा है कि, "प्रस्तुत कविताएँ नक्शों के बारे में हैं, लेकिन इनके केन्द्र में नक्शे नहीं, मानव हैं। ये कविताएँ नक्शों के जरिये समाज के असली चेहरे को दिखाने की एक कोशिश है।" स्पष्ट है कविता का विषय यहाँ जन-सरोकार और वर्तमानकालिक जीवन व समाज की समस्याएँ हैं।

कवि सरफराज आलम पेशे से शिक्षक हैं। फलत: विषय पर उनकी गहरी पकड़ का होना स्वाभाविक है, लेकिन जिस तरह से उन्होंने प्रस्तुत (भूगोल) के सहारे अप्रस्तुत (जनसरोकारों) का चित्रण किया है वह नि:संदेह

✡ *एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी०ए०वी० पी० जी० कॉलेज, वाराणसी (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी)*

काबिले-तारीफ है। नक्शा धरती और उसके टुकड़ों को मापने और समझने का एक माध्यम होता है जो अपनी विधि-पद्धतियों से काम करता है। यह एक ऐसा विषय है जो दुनिया में सर्वत्र है। नक्शे के बिना किसी देश की कल्पना नहीं की जा सकती। परमात्मा ने एक ही धरती बनायी पर हमने इस पर अनेक रेखाएँ खींच दीं। मनुष्य की अधिकार लिप्सा सरहदों में भी कहाँ रहने वाली थी? यहाँ तो आज भी सभी सिकंदर बनना चाहते हैं, इसीलिए सरहदी लड़ाइयाँ बदस्तूर जारी हैं। कभी इसे देखते हुए महान उपन्यासकार प्रेमचंद्र ने कहा था कि – "मनुष्य ही मनुष्य का सबसे बड़ा दुश्मन है"

उपर्युक्त विषय पर कविताएँ लिखते समय सर्जक को ऐसा लगता रहा है कि, "अभी तक की बनी दुनिया या उसके प्रदेशों के अधिकतर नक्शे शक्ति और अन्याय के पक्ष में खड़े मालूम होते हैं। आज तकाजा ऐसे नक्शों का है जो न्याय और स्वतंत्रता के पक्ष में खड़े रहें। ...मेरे लिए नक्शा बनाना एक न्याय संगत और स्वतंत्र समाज की परिकल्पना है।" स्पष्ट है कि रचनाकार पड़ताल करते हुए इसके लिए मूर के 'यूटोपिया' की तरह एक नये समाज की परिकल्पना करता है, क्योंकि यह वर्तमान समाज के संघर्षों से वाकिफ है।

वास्तव में हम सभी को एक ऐसे नक्शे का इंतजार है जहाँ सीमाओं और रेखाओं को लेकर संघर्ष न हो, इंतजार न हो, जहाँ राज्य या राष्ट्र स्वत: समाप्त हो जाये और मनुष्य कुदरत की बनायी पृथ्वी पर सुख चैन से रह सके। यह पृथ्वी ही एक गाँव (ग्लोबल विलेज) बन जाय। महान चिंतक और इतिहासकार डॉ. सम्पूर्णानंद ने अपने लेख 'राजसत्ता का अंत' में भी कुछ ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं, जब राज्य और सत्ता रहेगी ही नहीं; तब संघर्ष भी स्वत: समाप्त जायेगा। किन्तु, "नफरत हो गयी है हमें इस जहाँ से, नई दुनिया पर लायें कहाँ से ?" सौ टके का प्रश्न यह हम सबके सामने खड़ा है।

प्रस्तुत संग्रह की कई रचनाएँ बहुत मार्मिक और दिलचस्प हैं तथा रचनाकार के नवोदित विचार को आकार देती हैं, जैसे प्रस्तुत संग्रह की कविता 'मुझे तुम पर गर्व होगा' की ये पंक्तियाँ –

ऐ नक्शानवीस!
मुझे तुम पर गर्व होगा
जब तुम्हारे नक्शे
तोड़ेंगे सत्ता का व्यूह
नंगा करेंगे उसके छुपे मंसूबों को
और झकझोरेंगे नव-साम्राज्यवाद की नींव

– (पृष्ठ – 18)

इसी कविता में कवि नक्शानवीस से कहता –

ऐ नक्शानवीस!
मुझे तुम पर गर्व होगा
जब तुम्हारे नक्शे
आवाज बनेंगे उनकी
जो बे-जबान हैं
हथियार बनेंगे उनके
जो हक के लिए संघर्षरत हैं
और मत बनेंगे उनके
जो मतहीन हैं।

– (पृष्ठ – 19 )

कवि की सहानुभूति यहाँ गरीबों, मजलूमों और लाचारों के साथ है, वह शोषकों के खिलाफ है। कार्ल मार्क्स ने दुनियाभर में 'मजदूर क्रांति' का ऐसे ही आह्वान किया था। 'बदलना', शीर्षक रचना में यह कहता है-

चलो संघर्ष करें
नयी दुनिया बनाने के लिए
नया देश बनाने के लिए
नया शहर बनाने के लिए
नया गाँव बनाने के लिए।

- (पृष्ठ - 22 )

इसी प्रकार नक्शे गवाही देते हैं, शीर्षक रचना में वह समय और इतिहास की पड़ताल करता हुआ दिखायी पड़ता है। जब कोई ताकतवर शासक अपने भूगोल की सीमाओं को बढ़ाकर कमजोर राष्ट्र को प्रभावित करता है तब उस देश का नक्शा भी काँपने लगता है; यथा,

इतिहास के करवट लेने से
दुनिया का भूगोल बनता और बिगड़ता है
जिसका दस्तावेज
नक्शानवीस तैयार करता है
कागज के पन्नों पर
प्रतीकों, चिह्नों और रंगों से।

- (पृष्ठ - 26)

आज चीन और ताइवान, चीन और भारत, रूस और यूक्रेन, पाकिस्तान और अफगानिस्तान जैसे देशों के सामने यही संकट है जहाँ शक्तिशाली देश अपनी सनकमिजाजी से कमजोर राष्ट्रों को आँख दिखा रहे हैं। अमेरिका पूरी दुनिया का दादा बना बैठा है उसकी पूरी अर्थव्यवस्था दुनियाभर में हथियारों के निर्यात पर टिकी हुई है। इन कविताओं से कवि ने इन्हीं समस्याओं की ओर हमारा ध्याना खींचा है।

'नक्शे समाज का आईना नहीं होते', 'नक्शे में नहीं हैं', 'नक्शे को क्यों सजदा करूँ', 'युद्ध और नक्शा', 'नया नक्शा, नक्शे, 'राष्ट्रवादी नक्शे', 'हिंसा के नक्शे', 'संवेदनशील नक्शे', 'सैतालिस की लकीर' आदि कविताओं में विविध प्रकार से ऐसे ही विचार चित्रित हैं। 'संवेदनशील नक्शे' शीर्षक कविता में वह शक्तिशाली राष्ट्रों की क्रूरता और अधिकार चेष्टा के कारण उनके द्वारा किये गये नरसंहार, पीड़ाओं-व्यथाओं के विषय में कहता है कि -

घाव के ये नक्शे
दाग के ये नक्शे
दमन के ये नक्शे
 **     **
निष्कासन के नक्शे
निर्वासन के नक्शे
विस्थापन के नक्शे'।

- (पृष्ठ - 70)

कविको ऐसे नक्शों से दिली-नफरत है जो मानवता के ख़ून में डूबे हुए हैं जो बर्बरता और पीड़ा, घाव-देकर

और दमन करके बनाये जाते हैं, जहाँ संवेदना को मारकर कोई तानाशाह भूगोल की लकीरों को बड़ा करने का प्रयास करता है। इस तरह की अनेक कविताएँ उक्त संग्रह में मौजूद हैं। 'पृथ्वी' शीर्षक एक कविता में वह ग्लोब पर दिखती हुई पृथ्वी के विषय में कहता है -

ऐ पृथ्वी!
बहुत आसान है तुझे ढकना रंगों से
बहुत आसान है तुझे बाँधना लकीरों से
बहुत आसान है तुझे छेकना नुक्तों से
ऐ पृथ्वी!
तूलो बस एक खिलौना है

- (पृष्ठ - 98)

संग्रह में अनेक ऐसी अर्थपूर्ण कविताएँ हैं, जैसे- 'युद्ध एवं शांति', कविता में वह कहता है कि नक्शे ही दुनिया में युद्ध के कारण बनते हैं, पर आज तक एक भी नक्शा ऐसा नहीं बना जो शांति का संदेश दे सके। इसीलिए रचनाकार को इंतजार है एक नये नक्शे का, एक ऐसे नक्शे का जो नक्शों के पीछे छिपे असली मंसूबों को प्रकट कर सके, जो बता सके कि इन लकीरों के पीछे कितनों का खून-खराबा हुआ है-

हमें इंतजार है
नयी दुनिया का
हमें इंतजार है
नये नक्शे का भी

- (पृष्ठ -165)

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि कवि सरफराज आलम का 'नक्शानामा' हिन्दी कविता की दुनिया में एक नयी लकीर खींचता है, हिन्दी कविता के विषय का विस्तार करता है। नक्शे के माध्यम से इसके केन्द्र में वे लोग हैं जो हमेशा से हाशिये पर रहे हैं, वे राष्ट्र हैं जो सदा से दबंग राष्ट्रों द्वारा दबाये गये हैं, वे नक्शे हैं जिनमें बर्बरता के साथ मनुष्यता के खून की लकीरें खिंची है। इसीलिए इसमें कल्पना है एक नयी दुनिया की, उसके एक नये नक्शे की, एक नये मनुष्य-समाज की जहाँ नक्शों के लिए क्रूर और नर-संहारक युद्ध न हों, जहाँ मनुष्य शांति और सौहार्द के साथ जी सके। भाव, भाषा, बिम्ब, प्रतीक, वर्णन-शैली, शब्द-विन्यास आदि सभी दृष्टियों से 'नक्शानामा' एक परिपक्व रचना है। यह हिन्दी-काव्य-क्षितिज की नयी संभावना है।

❑❑❑

पुस्तक समीक्षा

# मनुष्य के दायित्व-बोध को जगाती कहानियाँ

❍ अश्वनी शांडिल्य*

*समीक्षक : डॉ. अश्वनी शांडिल्य,*
*सैक्टर 39-बी, चण्डीगढ, मोबाइल नं. 9417433138*
*पुस्तक : पलायन (कहानी-संग्रह)*
*लेखक : राजा सिंह*
*प्रकाशन : के.एल. पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद*
*मूल्य : 300 रुपये*
*पृष्ठ : 136*

जीवन के अनुभव, भाषा, कल्पना, विचार, दृष्टिसम्पन्नता तथा परिवेश को प्रभावित करने वाली ऐसी घटनाएँ जिनके सरोकार साधारण व्यक्ति से हों, इन सबसे युक्त लेखक का साहित्य उद्देश्यपरक होने के साथ-साथ पाठकीय समर्थन भी बटोर लेता है। राजा सिंह द्वारा लिखित कहानी-संग्रह 'पलायन' के पन्नों पर लेखक की युग-चेतना, मूल्य-बोध, व्यक्ति-चरित्र की विभिन्न दशाएँ, अनुभव का दायरा, विचार-दृष्टि, उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता आदि सब कुछ स्पष्टत: दिखाई देता है। इस संग्रह में विषय-चयन की दृष्टि से देखा जाए तो लेखक ने अपने आस-पास के वातावरण से उन स्वाभाविक घटनाओं या व्यक्तियों को लिया है जिनका संबंध हमारी सामाजिक व्यवस्था तथा जन-संस्कृति से है। व्यक्ति के अन्तर्मन में हिलोर लेते भावान्दोलन के उस वेग को पहचानने में भी लेखक सफल हुआ है जिसका सीधा संबंध हमारे पारिवारिक तथा सामाजिक मूल्यों से है। कई बार किसी विक्षिप्त या असामान्य व्यक्ति-चरित्र को गौण मानकर साहित्यकार उसे साहित्य के ढाँचे में अनुपयुक्त मान बैठता है जबकि उस चरित्र की कर्म-शृंखला के कारण सामाजिक तथा अन्य व्यवस्थागत भयावह परिणाम सामने आते हैं, जिनका समय के उस बिन्दु पर कोई उपचारात्मक समाधान नहीं हो सकता। राजा सिंह ने मानसिक रूप से असामान्य व्यवहार करने वाले चरित्रों का चित्रण करके उनसे सावधान रहने का संदेश दिया है।

लेखक ने इस संग्रह में जिन विषयों को लिया है उनमें निम्न-मध्यवर्गीय परिवारों में त्याग करने वाले व्यक्तित्व किस प्रकार नेतृत्व की क्षमता के कारण परिवार को थामकर ही नहीं रखते बल्कि उसे उन्नति की

✡ *डॉ. अश्वनी शांडिल्य, सैक्टर 39-बी, चण्डीगढ़, मोबाइल नं. 9417433138*

गति भी देते हैं, कच्ची उम्र में यदि कोई गलत विचारधारा में पड़ जाए तो उसके संपूर्ण जीवन को लीलने वाले दुखद व गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। वर्तमान समय में धन-पिपासु हथकण्डेबाज स्वार्थी प्रकाशक किस प्रकार कुकुरमुत्तों की तरह स्थान-स्थान पर उग आए हैं; चालाक, धोखेबाज व बेशर्म महिलाएँ कैसे अपनी बातों के चक्कर में लेकर लोगों को सीढ़ी बनाती हैं, समाज में सेवाभाव से परिपूर्ण उदार व्यक्तियों की उपस्थिति, पराश्रित नारियों की दुखद स्थिति, परिवार में गैर-जिम्मेदार कामचोर तथा संवेदनहीन व्यक्ति की बेहयाई, पति-पत्नी की विवेकहीनता के कारण टूटते-बिखरते दाम्पत्य संबंध, लव-मैरिज व अरेंज-मैरिज के माध्यम से वैवाहिक जीवन की सफलता के आधार की खोज आदि विषय राजा सिंह के जीवनानुभवों पर उनकी पकड़, रुचि तथा इन्हें सर्वग्राह्य बनाने की इच्छा को दर्शाते हैं।

इस संग्रह की 'दादा' कहानी गोपाल कृष्ण शास्त्री उर्फ दादा के इर्द-गिर्द घूमती है। खुद न पढ़कर दादा ने किस प्रकार अपने छोटे भाई मलय को अपना नेतृत्व व सुरक्षा-कवच प्रदान किया और परिवार को भी सहारा दिया, एक बाहुबली के रूप में पहचान बनाकर अपने भाई मलय के उत्थान में दादा की भूमिका प्रशंसनीय है। इस कहानी में उनके चरित्र का सुन्दर अंकन हुआ है। लेखक ने ग्रामीण अंचल में अस्तित्व की सुरक्षा के लिए बाहुबल को चुनौतियों के मध्य नितान्त आवश्यक माना है।

'पलायन' इस संग्रह की प्रतिनिधि कहानी है। यह कहानी जिग्नेश नामक व्यक्ति की व्यथा को परोसती है जो किशोर अवस्था में क्रान्ति के सपने लेकर घर तथा माता-पिता के प्रति अपने सारे कर्तव्यों को छोड़कर चला जाता है। जिस व्यामोह से घिरकर वह कामरेड बनने के रास्ते पर चलता है, वह व्यामोह उस समय जल्दी ही टूट जाता है जब वह उसके कप्तान के दोहरे चरित्र को महसूस कर लेता है। दस साल जेल में गुजार कर जब वह बाहर आता है तो सब कुछ बदल चुका होता है। उसके माता-पिता मर चुके होते हैं और उसे अपनी बहन के घर में पालतू नौकर जैसी स्थिति में रहना पड़ता है। वह अपने अस्तित्व तक को खो बैठता है। इस कहानी में ऐसे व्यक्ति के अनेक पलायन दिखाई देते हैं; जैसे- व्यवस्था से, अपने उद्देश्यों से, परिस्थितियों से, उत्तरदायित्व से और अन्त में यहाँ तक कि खुद के अस्तित्व से भी उसका पलायन बहुत दुखदायी व दयनीय रूप में सामने आता है। इस कहानी में लेखक का तटस्थ भाव, कल्पना व चिन्तन स्पष्ट झलकता है। यह कहानी भावुकतावश भटके युवाओं के लिए बड़ा संदेश देती है जो बिना सोचे समझे व्यवस्था-परिवर्तन का नारा देने वालों के छल-छद्मों में फँसकर अन्त में पश्चाताप के योग्य भी नहीं रह पाते।

'वह कौन था' कहानी 'रश्मिप्रभा' पत्रिका के संपादक आनन्द कुमार के छद्म चरित्र को उजागर करने वाली कहानी है। लेखक मृदुल के घर आकर वह अपने हथकण्डे अपनाना चाहता है लेकिन मृदुल पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। साहित्य जगत में ऐसे संपादक, प्रकाशक बहुत अधिक पैदा हो गए हैं जिन्होंने अपनी दुकानें खोल रखी हैं। ये लेखक से पुस्तक छापने के बदले में पैसे मांगते हैं या पुस्तक की प्रतियाँ खरीदने की शर्त रखते हैं। ये लोग अनेकानेक हथकण्डे प्रयोग करते हैं। 'वह सक्षम थी' शालिनी नामक ऐसी महिला की कहानी है जो विधवा होने के बाद अपनी तड़क-भड़क का सहारा लेकर लोगों से अपने काम करवाती है और फिर उन पर गंदे आरोप लगाने से भी परहेज नहीं करती। वह कहानी के मुख्य पात्र मनीष (पत्रकार) को भी अपने जाल में फँसाकर धोखा देती है। समाज में ऐसी महिलाओं के चक्कर में आकर भले पुरुष अपनी इज्जत भी खो बैठते हैं। यह कहानी इस प्रकार की महिलाओं से बचने का सार्थक संदेश देती है।

'लोकसंत' रचना में चाचा जी के रूप में ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया गया है जो निस्वार्थ भाव से सदा दूसरों की सहायता के लिए तत्पर रहा। बुढ़ापे में भी पूर्णतः स्वस्थ न होते हुए समाज सेवा के कार्यों में लगा रहा। चाचा जी जैसे लोग समाज में बची हुई ईमानदारी के प्रतिनिधि पात्र हैं लेकिन यह कहानी के बजाय संस्मरण

अधिक लगता है। 'प्रतिबद्ध' रघु और सीता के दाम्पत्य जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों पर आधारित कहानी है। इसमें नारी की विवश स्थिति को दिखाया गया है जो आत्मनिर्भर न होने के कारण अपनी परिस्थितियों से समझौता करने के लिए प्रतिबद्ध दिखाई देती है। 'जौंक और परजीवी' काली नामक ऐसे आवारा व निकम्मे व्यक्ति की कहानी है जो माँ की बिल्कुल भी चिन्ता नहीं करता। अपने छोटे भाई बब्बू द्वारा माँ को दिए पैसों से पेट भरता है लेकिन माँ के प्रति कभी अपना फर्ज अदा नहीं करता। इस कहानी में पाठक की पूरी सहानुभूति माँ के साथ हो जाती है।

'उलझती बिखरती' दाम्पत्य संबंधों के टूटने-बिखरने की कहानी है। पारस और बबिता दोनों ही अपने विवेकहीन व्यवहार व सोच के कारण अपनी गृहस्थी को नारकीय बना लेते हैं। कहानीकार ने इस कहानी में समाज की प्रमुख समस्या को उठाया है। यह कहानी पाठक को अधिक प्रभावित करती है तथा उसे मौन संकल्प व निर्णय लेने के विषय में विचार-मंथन करने को बाध्य करती है। पति-पत्नी की छोटी-छोटी जिद्द किस प्रकार संबंधों के बीच बड़ी दरारें पैदा कर देती हैं, यह सब इस कहानी में दिखाया गया है। इस कहानी का अंत प्रभावहीन है। इसका शीर्षक भी इससे कहीं अधिक सटीक हो सकता था। 'तटस्थ' कहानी में सृष्टि और शौरभ के प्रेम प्रसंग के बाद सृष्टि की गौतम से शादी होने तथा उनके वैवाहिक जीवन की दुखद परिणति को दिखाती है। इसमें वैवाहिक जीवन की सफलता-असफलता के कारणों पर चिंतन किया गया है। यह कहानी लव-मैरिज व अरेंज-मैरिज दोनों की सफलता का आधार भी प्रस्तुत करती है।

इस संग्रह में यदि दार्शनिक चिन्तन सहित लेखक की बौद्धिक उपस्थिति, कहानियों के रोचक, आकर्षक व सटीक शीर्षक, सार्थक व मार्मिक अन्त-विधान, पात्रों का मनोवैज्ञानिक आधार पर चित्रण, वातावरण का कथानक की घटनाओं के साथ सामंजस्यपूर्ण चित्रण आदि भी होता तो यह संग्रह और अधिक सशक्त होता। आवरण पृष्ठ के प्रतीकों का औचित्य, लगभग प्रत्येक पृष्ठ पर वर्तनी की अशुद्धियाँ और कुछ स्थानों पर वाक्यों की अस्पष्टता लेखक व प्रकाशक दोनों को प्रश्नों के घेरे में ले लेती है। इन सब खूबियों और खामियों सहित यह कहानी संग्रह पाठकों को नैतिक-कर्तव्यबोध, मूल्यों, अपने परिवेश, संस्कृति, समाज तथा मानवीय संबंधों के प्रति संवेदनशील बनाने का प्रयास है।

❑❑❑

शोधालेख

# झारखंड का 'आदि-धर्म-दर्शन' : अथातो धर्म-दर्शन जिज्ञासा

❍ रविरंजन कुमार✡

**संक्षिप्ति :**

झारखंड के आदिवासी समुदायों के जीवन-विधान एवं संस्कृति में समाजवादी मूल्यों का गहरा बोध है। यह इनके धर्म, विभिन्न कर्मकांडों व सामाजिक-सांस्कृतिक क्रियाकलापों में दृश्यमान है। सामाजिक-सांस्कृतिक और धार्मिक प्रतिनिधि के रूप में पाहन/बैगा/माझी (अलग-अलग जनजातियों में इसे अलग-अलग नामों से जाना जाता है) अपनी जिम्मेवारियों का निर्वहन पूरे गाँव के हितों को ध्यान में रखते हुए करते हैं, व्यक्तिगत या पारिवारिक नहीं। आदिवासी समाज में ईश्वर से व्यक्तिगत मिन्नतें नहीं माँगी जातीं जैसा कि दूसरे अन्य समाजों में होता है। व्यक्तिगत इबादत की बजाय ये अपने आराध्यदेव का आह्वान सम्पूर्ण ग्राम की कुशलता और सुरक्षा के लिए करते हैं। निजी सफलता, दौलत और वैभव की कामना इनकी प्रार्थनाओं में शामिल नहीं होती। वे ईष्ट देव से अच्छी फसल, अच्छी बारिश, अच्छी सेहत, लोककल्याण और पूरे गाँव की खुशहाली की गुहार लगाते हैं। सरहुल, करमा, सोहराई जैसे धार्मिक उत्सवों का संबंध सामूहिक-सामुदायिक भलाई और हित से है।

**बीज शब्द :** आदि-धरम, आदिवासी लोक, समाजवाद, जनजाति, टोटेम, धर्मेश, आत्मवाद, जैव-विविधता।

**विश्लेषण :**

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।[1]

झारखंड के आदिवासी-जन सार्वभौमिक चरित्र और उसकी स्थापनाओं को मानते हैं। 'महोपनिषद' की उपर्युक्त पंक्तियों के रास्ते चलता हुआ यह समाज 'उदारचरितानाम्' अर्थात उदार विचारधारा को साध्य बनाकर आज 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की मार्ग पर चलने को अग्रसर है। झारखंड के आदिवासियों का विश्व को यह दिया संदेश उनके जीवन-दर्शन को प्रभावशाली तो बनाती ही है हमें भी आकर्षित करती है। मसलन,

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।[2]

✡ *अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डिग्री कॉलेज जगन्नाथपुर, प. सिंहभूम (झारखंड) 833203*
*मो: 9470311115*

प्रकृति पर आधारित जीवन-दर्शन आदिवासी समुदाय की विरासत है। प्रकृति का शोषण और दोहन इनके संस्कार में नहीं है। यह प्रकृति से उतना ही लेते हैं जितने से वे जीवित और सुरक्षित रहें। पर्यावरण संरक्षण आदिवासी जीवन पद्धति का आदर्श है। आदिवासी संस्कृति एवं प्रकृति का गहरा आत्मीय रिश्ता है, इसलिए आदिवासी प्रकृति प्रदत्त पेड़-पौधों को अपने जीवन से जोड़ते हैं। आज के आपाधापी भरे समय में जहाँ मनुष्य का मस्तिष्क महज मशीन और कम्प्यूटर चालित बनकर रह गया है, वैसे समय में आदिवासी समुदाय की बहुमूल्य जीवन पद्धति हमें आकर्षित ही नहीं करती, बल्कि उससे जुड़ने को प्रोत्साहित करती है। खासकर झारखंड प्रदेश के आदिवासी अपने पहाड़, जंगल और नदी से जितना प्रेम करते हैं, वह अन्यतम है। यद्यपि मैं आदिवासी समुदाय में जन्मा, पला-बढ़ा युवक नहीं हूँ। इसके बावजूद मैंने इनके बीच रच बसकर यह कुछ जानने का जतन किया है। यह सच है कि मैंने अपने आस-पास यह जीवन-दर्शन नहीं देखा जो झारखंड की हरी-भरी धरती के बीच फैला और जमा हुआ है। लेकिन इनके बीच रहकर, इनके गीत-नृत्य और पर्वों में सम्मिलित होकर मैंने यह पाया कि यहाँ पाने को बहुत कुछ है, खोने को बहुत कम।

भारतीय समाज एवं भारतीय संस्कृति को उनकी देन कई मायनों में आधारभूत है, क्योंकि यहाँ के विभिन्न क्षेत्रों में जो सामाजिक संरचना विकसित हुई और जो संस्कृतियाँ फली-फूली उनके आधार पर कई ऐसे तत्व हैं जो आदिवासियों से जुड़े हुए हैं। देखा जाए तो वर्तमान भारतीय दर्शन और संस्कृति की जड़ झारखंड की मुंडा, हो और संथाल आदिवासी-संस्कृति में निहित है। जैसा कि जातियों तथा संस्कृति और दर्शन के विद्वानों के मतानुसार भारतीय संस्कृति को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, द्रविड़ तथा आर्य। इन दो वर्गों को ही दूसरे विभिन्न नामों, यथा- द्रविड़-गैर द्रविड, आर्य-अनार्य दिये जाते रहे हैं, किन्तु वे उपयुक्त नहीं हैं। भारतीय संस्कृति के लिए सटीक शब्द तो आदिवासी संस्कृति ही है। अन्य संस्कृतियों की तुलना में आदिवासी संस्कृति अपनी विशिष्ट पहचान को बचाए हुए है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता कहती हैं कि, "प्राचीन भारत की सभ्यता व संस्कृति इस देश में आर्यों के साथ नहीं आई थी, द्रविड़ या आर्यों से पूर्ववर्ती सभ्यता व संस्कृति (मुंडा, हो और संथाल संस्कृति) आक्रांताओं (आर्यो) की सभ्यता व संस्कृति से उच्च थी।"[3] बेशक, आदिवासी जीवन शैली मानवीय संवेदनाओं एवं प्रकृति के सामंजस्य पर निर्भर रही है। इसलिए उसके दर्शन में समस्त संसार के उत्थान एवं प्रगति की भूमिका निहित है। वहाँ आत्म से अधिक महत्व सामुदायिकता को दिया जाता है। इसे आदिवासी दर्शन का सार तत्व भी कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। क्योंकि आदिवासी दर्शन मनुष्य के श्रेष्ठ होने के अहं (घमंड) को खारिज करते हुए समस्त सृष्टि एवं प्रकृति के सहअस्तित्व को स्वीकार करता है। वनों और पहाड़ों के बीच सदियों से पुष्पित-पल्लवित एवं संरक्षित आदिवासी संस्कृति और उनके लोकाचार को भारतीय संदर्भ में देखा जाय तो वहाँ मानवीय मूल्यों का संग्रहण मिलता है। आदिवासी समाज, जो अपने विशिष्ट भौगोलिक परिवेश के कारण शहरी प्रभाव से अछूता है, उनमें अपनी संस्कृति और कला के प्रति गहरी निष्ठा है। समानता, सहअस्तित्व, सहजीविता, सहभागिता, सामूहिकता, श्रम की निष्ठा, स्त्री-पुरुषों की बराबरी आदि जीवन-मूल्यों के साथ आदिवासी समाज धरती, प्रकृति और जीवन को सुंदर बनाने में सक्षम है। जिस सामूहिकता, सहभागिता, सहकारिता का पाठ दुनिया सीख रही है, वह आदिवासियों के जीवन-दर्शन में सहज ही उपलब्ध है।

झारखंड भारत की आदिवासी अस्मिता की रीढ़ है। फलतः इनके जीवन-दर्शन से जुड़े तथ्यों का सर्वेक्षण जरूरी हो जाता है। यहाँ 'जीवन-दर्शन' से अभिप्राय जीवन जीने की कला या शैली से है। क्योंकि कोई भी समाज अपनी परंपराओं और मान्यताओं के अनुरूप ही जीवन का निर्वाह करता चलता है। इसलिए प्रत्येक समाज के पास अपना-अपना जीवन-दर्शन होता है। किसी भी समाज विशेष की पहचान उसके सामाजिक तथा

सांस्कृतिक लक्षणों से ही होती है, क्योंकि यह संस्कृति ही है, जो किसी समाज विशेष को अन्य समाजों से पृथक करती है। किसी भी समुदाय का सामाजिक, सांस्कृतिक अध्ययन तब तक पूरा नहीं माना जाता, जब तक उस समाज की मूलभूत परम्पराएँ, विश्वास, साहित्य, लोक संस्कृति का वर्णन न किया जाए; क्योंकि संस्कृति ही एक ऐसा सामाजिक मूलभूत तत्व है जो उस समाज, समुदाय के अंत:भावों को प्रदर्शित करती है।

आदिवासी जीवन दर्शन में सृष्टि के समस्त सजीव और निर्जीव प्राणियों को देखने का अलग दृष्टिकोण है। यह दर्शन मनुष्य के महान होने के दंभ को खारिज करता है और समुदाय न सिर्फ सांसारिक प्राणियों के प्रति पूर्ण श्रद्धा का भाव रखता है, अपितु जंगल, नदी, पहाड़, परिवेश तथा प्रकृति के प्रति प्रेम को भी अभिव्यक्त करता है जो उनकी मौखिक कथाओं के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानांतरित होता रहता है। उनके जन्मजात गुणों में सरलता, सहजता, सामूहिकता, समानता, ईमानदारी, परिश्रमशीलता एवं प्रकृति से घनिष्ठता की प्रधानता है।

झारखंड के आदिवासी समुदाय की सबसे बड़ी विशेषता अत्यंत सुगठित समाज व्यवस्था है। आदिवासी घने बसे होने के बजाय अपेक्षाकृत फैले हुए होते हैं, लेकिन भौगोलिक बिखराव के बावजूद भी उनमें समग्रता और एकता का अद्‌भुत सामंजस्य देखने को मिलता है। अर्थात् सामूहिकता आदिवासी संस्कृति का सार तत्व है। आदिवासी समाज अन्य समाजों की तरह कभी भी व्यक्तिवादी नहीं रहा और न ही उसने वैसा बनने का कभी प्रयास किया। आदिवासी समाज आज तक समूह में ही रहता आया है; अर्थात् वहाँ वह व्यक्तियों में नहीं, समूहों में जिन्दा रहते हुए एक समाज के रूप में अक्षुण्ण रहा है। बाहरी सभ्यताओं और उनके हमलों के बावजूद भी सामूहिकता और परस्पर सहयोग की प्रवृत्तियाँ इनके बीच बनी हुई हैं। आदिवासियों में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना होती है, जहाँ सबके बारे में सोचा जाता है। घर बनाना हो, खेत जोतना हो, रोपा करना हो, शिकार करना हो, शादी-ब्याह या अन्य कोई भी कार्य जो अकेले व्यक्ति के वश में न हो तब सामूहिक मदद की परंपरा का निर्वहन किया जाता है। आदिवासी समाज की एक बड़ी विशेषता सामाजिक और सांस्कृतिक कामों में सभी सदस्यों की समान भागीदारी है। मामला चाहे शिकार का हो या पंचायत का, सभी लोग उसमें सक्रिय भाग लेते हैं। आदिवासियों की न्याय व्यवस्था भी सामूहिक होती है। इसलिए वहाँ कोर्ट-कचहरी जैसे न्यायिक स्थान नहीं होते हैं। गाँव के आपसी झगड़ों या विवादों का निपटारा गाँव के पंच-पटेलों के माध्यम से कर लिया जाता है। जिसमें गाँव के युवक-युवती, बड़े-बुजुर्ग सम्मिलित होते हैं। जब किसी समस्या का हल गाँव स्तर पर नहीं हो पाता है तो कई गाँवों के पंच-पटेल मिलकर सामूहिक पंचायत के माध्यम से उसका समाधान निकाल देते हैं। जो सभी को स्वीकार होता है, अगर कोई व्यक्ति इस पंचायत के फैसले को मानने से इंकार कर देता है तो उसे गाँव और समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

झारखंड के आदिवासी गाँवों में किसी भी प्रकार का पर्व-त्यौहार या जन्म-मरण का आयोजन सामूहिक स्तर पर होता है, यहाँ व्यक्तिगत स्तर पर कोई भी आयोजन नहीं किया जाता है। समुदाय में रहकर लोग एक-दूसरे की भावनाओं को महत्व देते हैं। आदिवासी विशेषकर दु:ख के समय या किसी परिवार में मृत्यु के समय सभी लोग शोकाकुल परिवार में सम्मिलित होकर सांत्वना व्यक्त करते हैं। आदिवासियों में जन्म-मृत्यु, नामकरण, शादी-विवाह, सुख-दु:ख आदि समाज के सामूहिक क्रियाकलापों से नियंत्रित एवं संपन्न होते हैं। इस समाज के सहकार और सहभागिता की नींव से आविर्भूत होने से इसकी प्रत्येक जीवन रीति और क्रियाकलापों में सहभागिता और सहयोग के दर्शन होते हैं तथा इस समाज में जन्म से लेकर मृत्यु तक की प्रत्येक सामाजिक एवं धार्मिक गतिविधियाँ आपसी सहयोग से की जाती हैं। आदिवासी समुदाय एक बड़े संयुक्त परिवार की भांति होता है, जहाँ प्रत्येक सदस्य अपनी क्षमता के अनुसार योगदान करता है। यहाँ तक कि अगर किसी परिवार में

कोई व्यक्ति शारीरिक रूप से असक्षम होता है तो सभी लोग मिलकर उसकी मदद करते हैं। श्रम के फलों के सामूहिक उपभोग में ही इनके पारस्परिक लेन-देन का पूरा समायोजन हो जाता है। आदिवासी समुदायों में यह समूह भावना की उदात्त परम्परा आज तक बरकरार है।

आदिवासी समाज लिंगभेद के आधार पर सहज और खुले विचारों वाला है। इसलिए इस समाज के स्त्री-पुरुषों में विशेष भेद नहीं मिलता है। यहाँ की स्त्रियाँ स्वतंत्र, स्वावलंबी, परिश्रमी एवं साहसी होती हैं जो सामाजिक कार्यों में समान एवं सक्रिय भूमिका निभाती हैं। आदिवासी स्त्रियों की समानता पर जोर देते हुए झारखंड की आदिवासी साहित्यकार रोज केरकेट्टा कहती हैं कि, "जब आदिवासी समाज में गोत्र का बंटवारा हुआ, तब परिवार की अवधारणा बन चुकी थी और परिवार में स्त्री पत्नी होने के साथ-साथ सहयोगिनी भी होती थी। वह अपने विचार पारिवारिक मामलों में व्यक्त कर सकती थी। जैसे एक कथा में पति-पत्नी मिलकर तीन रोटियाँ बनाते हैं। पति दो खाना चाहता है, जिसके लिए तर्क देता है कि उसने चावल लाया है। यह कठिन काम था, जिसे उसने किया। स्त्री भी कहती है कि वह दो रोटी खाने की हकदार है, क्योंकि उसने लकड़ी ढूंढा, चावल पीसा और रोटी पकायी। काम उसने अधिक किए। याने काम के आधार पर उसे बराबरी का हक मिलना चाहिए।"[4] यहाँ आदिवासी स्त्री दूसरों को खुश रखने की अपेक्षा समान अधिकार की माँग करती है। यह समाज न सिर्फ स्त्री-पुरुष समानता की बात करता है, अपितु शिकार में जाने वाले कुत्ते के साथ भी समानता का व्यवहार किया जाता है। इस संदर्भ में विख्यात आदिवासी विद्वान और झारखंड के रहवासी डॉ. रामदयाल मुंडा कहते हैं कि, "यहाँ की स्त्रियाँ अपने व्यवहार में अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र हैं और जीवन के अधिकांश क्षेत्रों में पुरुषों के साथ उनकी समान सहभागिता दिखाई देती है। यह समानता कुछ अर्थ में मानवेत्तर दायरे तक चली गई है : किसी शिकार अभियान में किसी कुत्ते ने अगर निर्णायक भूमिका निभायी, तो उसकी हिस्सेदारी भी मनुष्य के बराबर गिनी जाती है। समानता के इसी तकाजे का परिणाम है कि एक प्रतीक रूप का समान अंतर छोड़ कर किसी गाँव के ग्रामप्रधान और एक सामान्य सदस्य में हैसियत का कोई खास अंतर नहीं होता। हर व्यक्ति के मन में श्रम की महत्ता के पीछे यही समानता का भाव कार्य करता है।"[5] यदि पुरुष मनपसंद जीवनसाथी चुनने का अधिकार रखता है तो आदिवासी स्त्री को भी यह अधिकार प्राप्त है। पति या अन्य पारिवारिक सदस्यों द्वारा प्रताड़ित किये जाने पर आदिवासी औरत अपने पति के घर को त्याग देती है, क्योंकि आदिवासी स्त्रियाँ पति को भगवान नहीं मानती हैं, बल्कि जीवनसाथी के रूप में स्वीकार करती हैं। पति के सताए जाने और सास-ससुर द्वारा तंग किए जाने पर घुट-घुट कर मर जाने की अपेक्षा उस पति को छोड़कर दूसरा साथी या पति चुनना और अपनी पसंद के पति के साथ जीना, आदिवासी स्त्री को अधिक पसंद है। इस व्यवहार को आदिवासी समाज मान्यता देता है, बहिष्कार नहीं करता। आदिवासी स्त्रियाँ पति को ईश्वर मान कर या धन के लोभ से सभी संत्रास सहन नहीं करती, बल्कि आर्थिक शोषण का शिकार हुए बिना ही आसानी से संबंध विच्छेद कर लेती हैं।

आदिवासियों में लड़के के घरवालों को लड़की के परिवारजनों को वधू-मूल्य अर्थात् गोनोंग चुकाना पड़ता है जो समाज के लोगों द्वारा तय किया जाता है। आदिवासी समाज में दहेज जैसी कुप्रथा नहीं मिलती है, इसलिए वहाँ आर्थिक आधार पर स्त्री शोषण नहीं मिलता है। अगर किसी लड़की की शादी कम उम्र में कर दी जाती है और उसका पति असामयिक मौत का शिकार हो जाता है तो उसको आजीवन विधवा रहने के बजाय दूसरा पति चुनने का अधिकार दे दिया जाता है। जब विधवा स्त्री को दूसरी जगह न भेजकर परिवार में ही ज्येष्ठ या देवर के साथ ही विवाह करवा दिया जाता है तो उसे 'नातरा विवाह' कहा जाता है। छोटी उम्र में विधवा हो जाने वाली स्त्री का उसी के ज्येष्ठ या देवर के साथ विवाह कर दिया जाता है और लड़का समाज के प्रमुख

लोगों के सामने विधवा स्त्री को पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेता है। आदिवासी समाज का मानना है कि बहू परिवार की इज्जत होती है, इसलिए उसे दूसरी जगह न भेजकर घर में ही सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार दिया जाना चाहिए। अत: उसकी शादी मृतक पति के भाइयों के साथ करा दी जाती है, क्योंकि यहाँ समाज में दो विवाहों को सामाजिक मान्यता मिली हुई है।

आदिवासियों को सांस्कृतिक रूप से एक विशिष्ट समुदाय माना गया है, लेकिन उसकी कोई स्वतंत्र धार्मिक पहचान नहीं है। झारखंड के आदिवासियों के धर्म को सरना, छत्तीसगढ़ के गोंड आदिवासियों के धर्म को गौंडी, राजस्थान–मध्यप्रदेश–गुजरात के भीलों के धर्म को भीली कहा जाता है। इन धर्मों का हिन्दू या अन्य किसी धर्म से कोई संबंध नहीं है। इसलिए आदिवासी समुदायों के सभी धर्म मिलकर आदिवासी धर्म अर्थात् 'आदि धरम' बनते हैं। यह समुदाय प्रकृति पर आधारित धर्म को महत्व देते हैं, क्योंकि यह समस्त मानव समुदायों की धार्मिक आस्थाओं का आधार या केन्द्रीय तत्व बनने की क्षमता रखता है। आदिवासियों का मुख्य धर्म 'आदि धरम' अर्थात् 'सरना' है जो उनके पूर्वजों की आस्थाओं का केंद्र है, जिसे अलग–अलग नामों से जाना जाता है। रामदयाल मुंडा और रतनसिंह मानकी लिखते हैं कि, "आदि धरम से हमारा तात्पर्य भारतीय आदिवासियों की धार्मिक आस्थाओं के उस मूल स्वरूप से है, जिसे प्रकारांतर में एनिमिज्म, एनीमिस्टिक रिलीजन, प्रिमिटिभिज्म, प्रिमिटिभ रिलीजन, एबोरिजिनल रिलीजन, आदिवासी धर्म, जनजाति धर्म, सरनाइज्म, सरना धर्म, सारि धर्म, जाहिरा धर्म, बोंगाइज्म, दोनिपोलो, बाथौ, इत्यादि नामों से विहित किया गया है।"[6] 'सरना' मुंडा आदिवासियों का पूजा स्थल होता है जो प्रत्येक गाँव के छोर पर शालवृक्ष के नीचे का खुला स्थान होता है। गाँव की सामाजिक पूजा और अनुष्ठान यहीं संपन्न होती है। वस्तुत: यह सरना गाँव के आसपास जंगल के पुराने अवशेष होते हैं जहाँ आदिवासियों के देवता निवास करते हैं।

आदि धरम के अनुसार मनुष्य मृत्यु के पश्चात किसी परलोकी स्वर्ग–नरक में न जाकर अपने ही घर में वापस आता है और अमूर्त शक्ति के रूप में अपने परिवारजनों को प्रेरित करता है। अगर वह महान कार्य करने वाला व्यक्ति रहा है तो उसको लोक–देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है अर्थात् आदिवासी धर्म 'आत्मवाद' या 'जीववाद' को अधिक महत्व देता है। मृत्यु प्रतीक रूप में दूसरा विवाह होता है, जिसमें मिट्टी का मिट्टी से, आग का आग से, पानी का पानी से और हवा का हवा से मिलन का अनुष्ठान होता है। इसके बाद मृतक की छाया की घर वापसी का अनुष्ठान किया जाता है। आदिवासियों की विश्वास व्यवस्था के अनुसार सभी स्थान पवित्र एवं धार्मिक होते हैं क्योंकि वहाँ आत्मा का निवास स्थान होता है। पशु–पक्षी, पेड़–पौधा, नदी, समुद्र, झरना, पहाड़, पत्थर सब के सब आत्मा के वास स्थान हैं। मृतक को भी इससे बाहर नहीं रखा गया है क्योंकि मृत्यु के बाद भी वे अस्तित्व में बनी रहती हैं या संतान के रूप में पुनर्जन्म धारण करती हैं, उसे 'धर्मेश'[7] कहकर संबोधित किया जाता है। साथ ही, यह प्रकृति तत्व के रूप में उनके गणचिन्हों की पूजा करते हैं या लोक देवी–देवताओं के रूप में अपने महान पूर्वजों की। इसे 'टोटेम'[8] कहा जाता है। ये दोनों आकाशीय एवं अमूर्त तत्व न होकर उनके निकटस्थ तत्व रहे हैं।

आदिवासी समाज सर्वप्रथम पृथ्वी, प्रकृति और जीव–जगत को महत्व देता है अर्थात् आदिवासी धर्म मनुष्यता को महत्व देते हुए प्रकृति के समस्त सजीव और निर्जीव प्राणियों के प्रति अपनी श्रद्धा एवं सम्मान व्यक्त करता है। उसका विश्वास है कि केवल मनुष्य ही इस संसार में विवेकशील प्राणी नहीं है, बल्कि सृष्टि के समस्त जीव–जंतुओं के पास भी विवेक होता है। जबकि अन्य धर्मों में देखा जाय तो वहाँ मनुष्य को ही अधिक प्राथमिकता दी जाती है। इस संदर्भ में झारखंड की आदिवासी चिन्तक वंदना टेटे कहती हैं कि, "गैर–आदिवासी विश्व का धर्म और विश्वास का मनुष्य इस दंभ से भरा है कि वह 84 लाख योनियों में सबसे श्रेष्ठ है। लेकिन

आदिवासी विश्वास श्रेष्ठता के इस दंभ से असहमति रखता है। वह मानता है कि इस समूची समष्टि में वह भी महज एक प्राणी है। अन्य प्राणियों एवं समस्त वस्तुजगत से अपने बौद्धिक सामर्थ्य के बावजूद वह कोई विशिष्ट जीव नहीं है।"[9] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज में इंसान और उसकी आत्मिक-भौतिक आवश्यकताएँ कभी भी केंद्र में नहीं रही है। बल्कि पूरी सृष्टि जिसमें प्रकृति भी एक सर्वोच्च नियामक व्यवस्था है, वह आदिवासी जीवन दर्शन का केंद्र रही है।

भारत की वर्तमान राष्ट्रपति महोदया बहलाती हैं, "हमारे देश में नौ प्रकार के दर्शन हैं लेकिन इनमें 'आदिवासी दर्शन' सर्वश्रेष्ठ है। आदिवासी समुदायों के लोग प्रकृति की पूजा करते हैं, और पंचतत्व (प्रकृति के पांच तत्व) की पूजा भी करते हैं। अब तक आदिवासियों की सीख बाहरी गतिविधियों, ब्रह्म-जगत के साथ संबंध और उनके समाज के प्रति व्यवहार तक ही सीमित रही है। लेकिन इस तरह के संगोष्ठियों से 'आदिवासी दर्शन' को दर्शन की भारतीय शाखा में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने में मदद मिलेगी। आदिवासी समुदाय पूजा स्थलों, जन्म और मृत्यु के अनुष्ठानों, सामाजिक संगठनों, त्योहारों, लोकगीत और नृत्य के बारे में सीख रहे हैं।"[10]

'सरहुल' झारखंड के आदिवासियों का सबसे महत्वपूर्ण शब्द है और अपने आप में एक पूरा जीवन-दर्शन भी। इसलिए इस पर्व का दर्शन अप्रतिम है। इसमें आदिवासी जन जमीन पर सिंगबोंगा, पृथ्वी और जल देवता (इकिर बोंगा) के लिए तीन लकीरें और पंच पूर्वजों के लिए प्रतीक रूप में पांच खड़ी लकीरें बनाते हैं। इसके बाद पाहन क्रमशः सिगबोंगा, पृथ्वी और पहाड़ देवता (बुरु बोंगा), जल देवता (इकिर बोंगा), ग्राम देवता (हातु बोंगा) और पूर्वजों को संबोधित कर उनसे प्रार्थना करते हैं। मुर्गे-मुर्गियों की बलि देते हैं और पारंपरिक पेय, हड़िया अर्पित करते हैं। इसके बाद पाहन व उनके सहयोगियों द्वारा पूजा मंत्र उच्चारण किया जाता है। सभी अनुष्ठान में पृथ्वी को प्राथमिकता दी जाती है क्योंकि वही जीवन स्रोत है। बीज के माध्यम से सभी पुनः जीवन को प्राप्त करते हैं। प्रार्थना में चारों दिशाओं, पृथ्वी, आकाश, पाताल, सृष्टि, जीव-जंतु को संबोधित किया जाता है एवं समस्त मानव के लिए या विश्व के सभी जीवित जनों के भले की कामना की जाती है। उनके अच्छे स्वास्थ्य की कामना की जाती है। रोग, दुख, क्रोध, लोभ से मुक्ति की कामना की जाती है और समस्त देवी-देवताओं को साथ बैठकर खाने-पीने, बात करने का न्योता दिया जाता है। इसके बाद बलि में चढ़ाये गये मुर्गे-मुर्गी की खिचड़ी बनती है और प्रसाद स्वरूप सेवन किया जाता है। फिर नाच गान कर वापस गांव लौट आते हैं। अपने-अपने घरों के मुखिया पूजा करते हैं। प्रार्थना में पूर्वजों को प्राथमिकता दी जाती है। शाम को कुटुंब-बंधुओं के साथ नृत्य-संगीत का कार्यक्रम रात भर चलता है। तीसरे दिन, दिन भर मेहमानों के साथ खान-पान एवं शाम को फूल विसर्जन किया जाता है। चौथी शाम को अखरा मिटाने के नाम पर फिर से एक बार लोग नाचते गाते हैं।

सरहुल के रूप में प्रकृति की पूजा करना महत्वपूर्ण ही नहीं, आवश्यक भी है। झारखंड के आदिवासी आदिकाल से प्रकृति की गोद में ही पलते आये हैं। उनके पास नये मौसम के आने के स्वागत और पतझड़ के विरह के लोकगीत हैं। इस प्रकृति से उसे जीवनदायी कंद-मूल, फल-फूल, औषधीय गुणों से परिपूर्ण जड़ी-बूटी मिलती है। वहीं, जब हवाओं के विशाल झोंके, घनघोर बारिश जैसी विपदाएं प्रकृति के सौंदर्य को तहस-नहस करती है, तब सरल आदिवासी हृदय विचलित हो जाता है। इसलिए आदिवासी मनमस्तिष्क में प्रकृति के प्रति श्रद्धा, भक्ति, आदर, प्रेम की भावना है। वहीं, प्रकृति के रौद्र रूप उसके मन में भय उत्पन्न करते हैं। वह समझता है कि प्रकृति से जब उसे नुकसान पहुंचता है, तब यह स्पष्ट होता है कि प्रकृति उनसे नाराज है। जब से उसे प्रकृति की आपत्तियों का सामना करना पड़ा तब से उसने किसी अदृश्य शक्ति की ओर देखना प्रारंभ किया। कभी जिज्ञासा तो कभी भय के कारण मनुष्य में धार्मिक प्रवृति उदित हुई। यही धर्म आदिम जातियों की

सार्वभौमिक प्रवृत्ति है। प्रकृति के उपयोगी वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए उसे खुश रखना आवश्यक है। इसलिए वह प्रकृति के विभिन्न रूप, पेड़-पौधे, नदी-नाले, पहाड़-पर्वत आदि की पूजा, प्रार्थना या आराधना करता है। आज विडंबना है कि विलासिता, औद्योगीकरण, विज्ञान के नित नये प्रयोग के कारण मनुष्य प्रकृति को उजाड़ने में लगा है और जीव समुदाय के लिए 'प्राणघातक' जहर उगल रहा है।

इसलिए सरहुल पर्व में वृक्ष का कितना महत्व है, यह हम सखुआ (शाल) के विषय में शोध कर जान सकते हैं। इनका मौखिक इतिहास बताता है – मुंडाओं और दिकुओं में अचानक युद्ध हुआ। मुंडाओं ने सिंगबोंगा के आदेश पर साखू के फूल-पत्तों से अपने को सजा लिया, ताकि दिकुओं को आसानी से पहचाना जा सके। इस युद्ध में साखू के पुष्प-पल्लवों से आवृत होने के कारण विजयी हो गये मुंडा। इसकी स्मृति में सरहुल साखू के फूल पत्तों की टहनियों से सरना स्थल में मनाया जाता है। दूसरी कथा कहती है, मुंडाओं का अन्य विजातियों से भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध में अनेक मुंडा वीर शहीद हो हुए। उन्हें मसना में गाड़ दिया गया। उसी मसना के ऊपर सखुआ के पेड़ उगे और फूल-पत्तों से लद गये। मुंडाओं को लगा हमारे वीर शहीद ही साखू के पेड़ और फूल पत्ते बनकर छा गये। इसकी स्मृति में सरहुल मनाना शुरू हुआ। तीसरी कहानी है मुंडाओं का विदेशी लोगों से युद्ध का। सिंगबोंगा ने मुंडाओं को साल के फूल पत्तों में छिपने के लिए कहा। वे ऐसा कर अदृश्य हो गये। विदेशी दुश्मनों को कुछ पता न चला कि मुंडा कहाँ, किधर और कितने हैं। इस तरह मुंडाओं की विदेशी दुश्मनों से जीत हुई। इस स्मृति में सरहुल मनाने लगे। चौथी कथा कहती है, महाभारत के युद्ध में मुंडा कौरवों की ओर से युद्ध कर रहे थे। युद्ध में अनेक मुंडा योद्धा वीरगति को प्राप्त हुए। इनकी लाश को साखू के पत्तों की टहनी से ढंक दिया गया, ताकि युद्ध की समाप्ति से बाद उनका अंतिम संस्कार किया जा सके। युद्ध की समाप्ति के बाद देखा गया कि साखू के फूल-पत्तों व टहनियों से ढंकी लाश सुरक्षित थी। इससे साखू के पत्तों का महत्व का पता चला। तब से सरहुल मनाया जाने लगा। साल के पेड़ के संबंध में कहावत है कि हजार साल खड़ा, हजार साल पड़ा, हजार साल सड़ा, ये ही इसकी आयु। इसके पत्ते सूखने के बाद भी भिंगो देने से दोना पत्तल के काम आते हैं। इसका गोंद धूवन, पूजा एवं पर्यावरण शुद्धि के काम आता है। इसकी लकड़ी से बने सामान टिकाऊ होते हैं। इसके पत्ते और लकड़ी देर तक जलती है। सखुआ के फूल दूर-दूर तक अपना विस्तार करते हैं, इन्हीं गुणों की वजह से इसकी पूजा की जाती है।

झारखंड के आदिवासियों की सबसे दिलचस्प बात यह है की वे विषम पर्यावरण स्थिति में भी रहना जानते हैं एवं प्रकृति के हर संकेत को पढ़ना जानते हैं। इन्होंने पर्यवावरणीय प्रबंधन और विकास प्रक्रिया के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। वे जहाँ भी रहते हैं, पर्यावरण को क्षति पहुंचानेवाले विकास के तरीकों का विरोध करते हैं। भारत 'जैव विविधता' से समृद्ध है और आदिवासियों ने 'जैव विविधता' के संरक्षण में काफी मदद की है। फिर भी तेजी से हो रही औद्योगिक क्रांति व विकास की दौड़ के कारण स्थिति चिंतनीय है। पर्यावरण की रक्षा में ही सबकी भलाई है और इसमें सबकी भागीदारी हो। इसके बिना सरहुल सरहुल न होकर सरई और हूल के दर्शन में तब्दील हो सकता है।

निष्कर्ष: मौजूदा संरचनात्मक असमानताओं और आदिवासी लोगों के संस्थागत हाशिए पर और उनकी मान्यताओं को बदलने के लिए बहुत कुछ नहीं हुआ है। झारखंड में आदिवासी समुदायों ने भी अपने संसाधनों के व्यवस्थित अतिक्रमण और चोरी के खिलाफ लंबे समय से संघर्ष किया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आशा, एकता और क्षमा में डूबी उनकी आध्यात्मिक मान्यताओं और दार्शनिक परंपराओं ने उन्हें अन्य समुदायों के साथ और आधुनिकता की चुनौतियों के साथ उनके कालातीत मुठभेड़ों में मार्गदर्शन किया है। क्या एक

संहिताबद्ध जनजातीय धर्म उनके शोषण का संभावित मारक हो सकता है और उनके जीवन और पहचान के तरीके को संरक्षित कर सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आशा, एकता और क्षमा में डूबी इनकी आध्यात्मिक मान्यताओं और दार्शनिक परंपराओं ने उन्हें अन्य समुदायों के साथ और आधुनिकता की चुनौतियों के साथ उनके कालातीत मुठभेड़ों में मार्गदर्शन किया है।

**संदर्भ :**


1. महोपनिषद्, अध्याय-6, मंत्र-71
2. श्रीमद्भगवद्गीता; अध्याय-6, श्लोक-38
3. रमणिका गुप्ता, आदिवासी लोक : लोक अस्मिता, खंड-1; पृ. 110; शिल्पायन प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण : 2006
4. रोज केरकेट्टा, आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन; पृ. 70; प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, संस्करण : 2013
5. डॉ. रामदयाल मुंडा, आदिवासी अस्तित्व एवं झारखंडी अस्मिता के सवाल; पृ. 32; प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली; सं: 2008
6. डॉ. रामदयाल मुंडा और रतन सिंह मानकी, आदि धरम; पृ. 11; राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण : 2009
7. चूँकि आदिवासी समाज 'आत्मा, जीवात्मा और दुष्टात्मा' इन सबमें पूर्ण विश्वास करते हैं। आत्मा की स्वीकारता के कारण ही यह पूर्वजन्म में आस्था रखते हैं और इसकी अनुष्ठान करते हैं। इस अनुष्ठान के माध्यम से मृतक की आत्मा को परमेश्वर और उसके सहयोगी देवताओं के साक्ष्य में तथा कुटुम्बियों की उपस्थिति में परिवार के पूर्वजों में सम्मानपूर्वक सम्मिलित कर लिया जाता है। इस कारण उसे वे 'धर्मेश' कहकर संबोधित करते हैं।
8. 'टोटेम' वस्तुत: आदिवासियों के गणचिह्न होते हैं जो पूर्णत: काल्पनिक होते हैं। इनको मानने के पीछे इनकी धारणा है कि संकट की घड़ी में यह उनकी सहायता करेंगे। कोई भी पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, जीव-जंतु आदि 'टोटेम' हो सकते हैं। इनको किसी भी प्रकार की क्षति पहुँचाना या मारना वर्जित है।
9. रोज केरकेट्टा, आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन; पृ. 89; पूर्वोद्धृत।
10. वर्तमान भारत की राष्ट्रपति और जनवरी, 2020 के समय में झारखंड की राज्यपाल रहीं माननीया द्रौपदी मुर्मू जी झारखंड की राजधानी राँची में "आदिवासी दर्शन" विषय पर आयोजित तीन दिवसीय जनजातीय दर्शन पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन जो 17 जनवरी से 19 जनवरी के बीच आयोजित किया गया था, उसका उद्घाटन किया था। वह अपना उद्घाटन वक्तव्य देते हुए कही गयी बात।


❑❑❑

शोधालेख

# मौर्यकालीन राजनीति की झलक : मुद्राराक्षस में परिलक्षित सत्ता संघर्ष

❍ कुमार वीर भूषण*
❍ डॉ. सत्येन्द्र राय**

**संक्षिप्ति :**

यह शोध आलेख का मुख्य उद्देश्य विशाखदत्त द्वारा रचित संस्कृत नाटक मुद्राराक्षस के माध्यम से मौर्यकालीन राजनीति एवं सत्ता संघर्ष की झलक को उजागर करना है। मुद्राराक्षस नाटक नंद वंश के पतन और चंद्रगुप्त मौर्य के सत्तारोहण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है, जिसमें चाणक्य की कूटनीति, राक्षस (पूर्व मंत्री) की निष्ठा, और साम, दाम, दंड, भेद की रणनीतियों का गूढ़ चित्रण मिलता है। यह आलेख दर्शाता है कि किस प्रकार सत्ता प्राप्ति हेतु राजनीतिक षड्यंत्र, विश्वासघात, रणनीतिक गठबंधन एवं गुप्तचरी जैसी विधियों का प्रयोग उस काल में प्रचलित था। चाणक्य का चरित्र राजनीतिक चातुर्य एवं दूरदर्शिता का प्रतीक है, वहीं राक्षस जैसे पात्र नैतिकता और राष्ट्रनिष्ठा का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह शोध दर्शाता है कि प्राचीन भारतीय राजनीति में नीति, सत्ता, नैतिकता एवं व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का संघर्ष किस रूप में उभरकर सामने आता है।

**बीज शब्द :** मौर्यकाल, मुद्राराक्षस, सत्ता संघर्ष, कूटनीति, नंद वंश, प्राचीन भारत, नीति, राक्षस (चरित्र)।

मौर्यकाल भारतीय इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण युग रहा है, जिसकी नींव चंद्रगुप्त मौर्य और चाणक्य (कौटिल्य) की दूरदर्शिता, रणनीतिक सूझ-बूझ और साहस पर आधारित थी। इस कालखंड में न केवल भारत का राजनीतिक एकीकरण हुआ, बल्कि एक संगठित, शक्तिशाली और केंद्रीकृत साम्राज्य की स्थापना भी हुई। मौर्य साम्राज्य की स्थापना की पृष्ठभूमि और उसके प्रारंभिक वर्षों में जो सत्ता संघर्ष, राजनीतिक षड्यंत्र और कूटनीतिक रणनीतियाँ अपनाई गईं, उनका प्रभाव दीर्घकालीन रहा। विशाखदत्त द्वारा रचित संस्कृत नाटक मुद्राराक्षस इसी काल की घटनाओं को साहित्यिक रूप में प्रस्तुत करता है, जिसमें नंद वंश का अंत और मौर्य वंश की स्थापना की कथा को मुख्य रूप से दर्शाया गया है।

मुद्राराक्षस ऐतिहासिक तथ्य और कल्पना का अद्भुत मिश्रण है, जिसमें तत्कालीन समाज, राजनीति और नैतिक मूल्यों की झलक मिलती है। नाटक के दो प्रमुख पात्र -चाणक्य और राक्षस- प्राचीन भारतीय राजनीति

* *शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, भूपेंद्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय, लालू नगर मधेपुरा।*
** *शोध निर्देशक, बी.एस.एस. कॉलेज, सुपौल, भूपेंद्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय, लालू नगर मधेपुरा।*

की दो विभिन्न धाराओं के प्रतिनिधि हैं। एक ओर चाणक्य हैं, जो किसी भी मूल्य पर सत्ता स्थापित करने हेतु कूटनीतिक साधनों का प्रयोग करते हैं, वहीं दूसरी ओर राक्षस हैं, जो अपनी निष्ठा, राष्ट्रप्रेम और आदर्शों के लिए संघर्ष करते हैं। यह नाटक इस द्वंद्व को अत्यंत रोचक और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है।

इस शोध आलेख में विश्लेषण किया गया है कि किस प्रकार मुद्राराक्षस मौर्यकालीन राजनीति के यथार्थ को प्रतिबिंबित करता है। सत्ता प्राप्ति के लिए प्रयुक्त होने वाली चाणक्य की रणनीतियाँ जैसे साम, दाम, दंड, भेद न केवल तत्कालीन राजनीतिक यथार्थ को दर्शाती हैं, बल्कि आज के संदर्भ में भी राजनीतिक व्यवहार और नीति-निर्माण के लिए प्रासंगिक मानी जाती हैं। यह नाटक न केवल सत्ता संघर्ष की कथा है, बल्कि इसमें छिपे नैतिक और दार्शनिक प्रश्न भी ध्यान देने योग्य है; जैसे, क्या सत्ता प्राप्त करने के लिए कोई भी उपाय उचित ठहराया जा सकता है? क्या राष्ट्रहित में व्यक्तिगत नैतिकता की बलि दी जा सकती है?

इसके साथ ही, मुद्राराक्षस उस युग की सामाजिक व्यवस्था, प्रशासनिक ढांचे और नारी की स्थिति का भी संकेत देता है। नाटक में पात्रों की भूमिका, संवाद और उनकी राजनीतिक सोच मौर्यकालीन राजनीतिक व्यवहार का जीवंत चित्र प्रस्तुत करते हैं।

**मौर्यकालीन राजनीतिक पृष्ठभूमि :**

विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस एक अद्वितीय ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें चाणक्य, चंद्रगुप्त मौर्य और राक्षस जैसे पात्रों के माध्यम से मौर्यकालीन राजनीति का सजीव चित्रण किया गया है। यह नाटक न केवल तत्कालीन सत्ता संघर्ष को प्रस्तुत करता है, बल्कि तत्कालीन राजनैतिक विचारधारा, कूटनीति, दूत-नीति और प्रशासनिक व्यवस्था की झलक भी देता है। यह नाटक विशेष रूप से चंद्रगुप्त मौर्य के शासन की स्थापना और नंद वंश के पतन की पृष्ठभूमि में रचा गया है।

मौर्यकाल में राजनीति अत्यंत व्यावहारिक, यथार्थवादी और उद्देश्य-केन्द्रित थी। मुद्राराक्षस में चाणक्य एक कुशल राजनयिक के रूप में उभरते हैं, जो राज्य की स्थिरता और चंद्रगुप्त की सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिए किसी भी हद तक जाने को तत्पर हैं। उनके द्वारा अपनाई गई नीतियाँ- जैसे छल, वेशभूषा में परिवर्तन, गुप्तचरों का प्रयोग, विश्वासघात को एक हथियार की तरह प्रयोग करना- तत्कालीन राजनीति की कठोरता और कूटनीतिक गहराई को दर्शाती हैं।

इस नाटक में दिखाया गया है कि किस प्रकार सत्ता की प्राप्ति और स्थिरता हेतु केवल शौर्य या नैतिकता ही पर्याप्त नहीं होती, अपितु युक्ति, चातुर्य और राजनीतिक कौशल की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, राक्षस को अपने पक्ष में लाने के लिए चाणक्य जिस प्रकार की योजनाएँ बनाते हैं, वह तत्कालीन राजनीति की जटिलताओं और रणनीतिकता को स्पष्ट करती है।

इतिहासकार रोमिला थापर ने अपनी पुस्तक Ashoka and the Decline of the Mauryas (Oxford University Press, 1961) में भी उल्लेख किया है कि प्रारंभिक मौर्यकाल सत्ता परिवर्तन और राजनीतिक समरसता की दृष्टि से अत्यंत सक्रिय काल था। इसी का साहित्यिक प्रतिबिंब मुद्राराक्षस में देखने को मिलता है। वहीं, रामशरण शर्मा अपनी कृति India's Ancient Past (Oxford University Press, 2005) में मौर्यकालीन प्रशासन की व्यापक संरचना का वर्णन करते हैं, जिसकी झलक नाटक में पात्रों की रणनीतियों और संवादों में परिलक्षित होती है।

इस नाटक में 'राष्ट्रहित' को सर्वोपरि रखा गया है, जहाँ व्यक्तिगत भावनाओं और संबंधों की बलि दी जा सकती है। चाणक्य का चरित्र इस राजनीति का आदर्श रूप है, जो नैतिकता और नीति के बीच संतुलन स्थापित

करने का प्रयास करता है। उनकी राजनीति सत्ता प्राप्ति के बाद भी राष्ट्र निर्माण की दिशा में सक्रिय रहती है।

अत: मुद्राराक्षस केवल एक ऐतिहासिक नाटक नहीं है, बल्कि मौर्यकालीन राजनीति की मानसिकता, आदर्शों और व्यावहारिकताओं का दस्तावेज है। यह कृति हमें यह समझने में सहायता करती है कि भारत का प्राचीन राजनीतिक इतिहास कितना सूक्ष्म, जटिल और दूरदर्शी था।

**'मुद्राराक्षस' का कथानक और पात्र:**

'मुद्राराक्षस' संस्कृत नाटक है, जो मौर्यकालीन राजनीति और चाणक्य की कूटनीति को दर्शाता है। यह नाटक सात अंकों में रचित है और इसके केंद्र में मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त की सत्ता प्राप्ति का संघर्ष और चाणक्य की राजनैतिक चतुराई है। नाटक का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन नहीं, बल्कि तत्कालीन राजनैतिक दशा का यथार्थ चित्रण करना है।

**कथानक का संक्षिप्त विवरण:**

नाटक की शुरुआत उस समय से होती है जब चंद्रगुप्त मौर्य ने नंद वंश का विनाश कर दिया है और पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया है। किंतु उसकी सत्ता अभी स्थायित्व नहीं पा सकी है। नंदों के पुराने मंत्री राक्षस (राक्षसाचार्य) अब चंद्रगुप्त के विरोध में षड्यंत्र कर रहे हैं। वे चंद्रगुप्त को हटाकर पुन: नंद वंश को स्थापित करना चाहते हैं।

दूसरी ओर, चाणक्य अपनी राजनैतिक बुद्धि और कूटनीति द्वारा राक्षस को चंद्रगुप्त का पक्षधर बनाना चाहते हैं। इसके लिए वे मालविका, चंदनदास, भगुरायण, और अन्य पात्रों का उपयोग करते हैं। वे राक्षस को यह विश्वास दिलाते हैं कि नंदों का पक्ष लेना अब व्यर्थ है और राष्ट्रहित में चंद्रगुप्त का साथ देना ही उचित है।

नाटक का चरम बिंदु तब आता है जब चाणक्य की योजनाओं के कारण राक्षस को यह आभास होता है कि चंद्रगुप्त ही राष्ट्र की एकता और सुरक्षा का केंद्र बन सकता है। अंतत: वह उसकी सेवा स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार नाटक चाणक्य की सफल कूटनीति और राष्ट्र निर्माण के विचार को प्रस्तुत करता है।

**मुख्य पात्रों का परिचय:**

1. चाणक्य : नाटक का प्रमुख पात्र। एक राजपुरुष, राजनयिक और कूटनीतिज्ञ। राष्ट्रहित के लिए किसी भी सीमा तक जाने को तैयार। उनका चरित्र राजनीति और दूरदर्शिता का प्रतीक है।
2. चंद्रगुप्त मौर्य : युवा, वीर और महत्वाकांक्षी राजा। चाणक्य की सहायता से नंदों को पराजित कर सम्राट बनता है।
3. राक्षस (राक्षसाचार्य) : पूर्व नंद मंत्री। अपने राजा के प्रति निष्ठावान, लेकिन अंतत: राष्ट्रहित में चंद्रगुप्त का साथ स्वीकार करता है। वह नीति और आदर्श का प्रतीक है।
4. चंदनदास : व्यापारी और चाणक्य का विश्वासपात्र। राक्षस की बहन का पति है। अपनी देशभक्ति और नि:स्वार्थ भाव से प्रेरित है।
5. भगुरायण : चाणक्य का सहायक। योजना बनाने और उसे कार्यान्वित करने में दक्ष।
6. मालविका : राक्षस की भांजी। नाटक में भावनात्मक पक्ष लाती है और कथानक में एक मोड़ उत्पन्न करती है।

'मुद्राराक्षस' केवल एक ऐतिहासिक नाटक नहीं है, बल्कि यह राजनीतिक आदर्शों, राष्ट्रभक्ति और कूटनीति का अद्भुत संगम है। इसके पात्र वास्तविकता से जुड़े हैं और कथानक में निरंतर गतिशीलता बनी रहती है। विशाखदत्त ने राजनीति को कला में रूपांतरित कर एक ऐसा नाटक रचा है, जो आज भी प्रासंगिक है।

**सत्ता संघर्ष और कूटनीति :**

राजनीति के इतिहास में सत्ता संघर्ष और कूटनीति दो ऐसे अविभाज्य तत्व हैं, जो न केवल शासकों की नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवेश को भी प्रभावित करते हैं। सत्ता की प्राप्ति, संरक्षण एवं विस्तार के लिए विभिन्न युगों में संघर्ष हुए हैं, और इन संघर्षों को संतुलित करने या उन्हें अपने पक्ष में मोड़ने हेतु कूटनीति का सहारा लिया गया है।

सत्ता संघर्ष का तात्पर्य है– राजनीतिक प्रभुत्व को प्राप्त करने हेतु विभिन्न गुटों, व्यक्तियों या राज्यों के मध्य होने वाला संघर्ष। यह संघर्ष कभी खुला युद्ध होता है, तो कभी छद्म रूप में चलता है। भारत के इतिहास में महाभारत से लेकर मौर्य, गुप्त और मुगल युग तक सत्ता संघर्ष की अनेक घटनाएँ मिलती हैं। चाणक्य द्वारा चंद्रगुप्त मौर्य को सत्ता में लाने हेतु किया गया रणनीतिक संघर्ष इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है, जहाँ केवल शस्त्रबल नहीं बल्कि बुद्धि और कूटनीति की शक्ति का भी प्रयोग हुआ।

कूटनीति, नीति, युक्ति और विवेक का वह स्वरूप है जिसके द्वारा बिना युद्ध के या न्यूनतम हानि के साथ अपने लक्ष्य की प्राप्ति की जाती है। कूटनीति का उद्देश्य होता है– विरोधियों को नियंत्रित करना, मित्रों को बनाए रखना, और सत्ता को स्थिर बनाए रखना। प्राचीन भारतीय कूटनीति की चार प्रमुख नीतियाँ 'साम, दाम, दंड, भेद' के रूप में जानी जाती हैं, जिन्हें चाणक्य ने अर्थशास्त्र में विस्तार से बताया है।

कूटनीति का वास्तविक प्रयोग सत्ता संघर्ष के समय देखने को मिलता है, जब शासक या राजनेता अपने विरोधियों को पराजित करने के लिए प्रत्यक्ष युद्ध के स्थान पर गुप्त योजनाएँ, दूतों के माध्यम से संदेश, विवाह संबंध, गठबंधन या छल-कपट जैसी रणनीतियों का उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिए, 'मुद्राराक्षस' नाटक में चाणक्य की कूटनीतिक नीति यह दिखाती है कि कैसे एक सक्षम राजनीतिज्ञ अपने शत्रु को बिना युद्ध के पराजित कर सकता है।

आधुनिक राजनीति में भी सत्ता संघर्ष और कूटनीति का रूप बदला है, परंतु मूल भावना वही है। चुनावी राजनीति, गठबंधन सरकारें, कूटनीतिक वार्ताएँ, और अंतरराष्ट्रीय संबंधख़ ये सभी इस बात को प्रमाणित करते हैं कि आज भी सत्ता संघर्ष और कूटनीति साथ-साथ चलते हैं।

सत्ता संघर्ष मानव समाज की राजनीतिक प्रक्रिया का स्वाभाविक भाग है, और कूटनीति उसका नियंत्रण तंत्र। जब भी सत्ता को लेकर टकराव होता है, वहाँ कूटनीति न केवल संघर्ष को सीमित करती है, बल्कि स्थायित्व और समृद्धि के मार्ग भी प्रशस्त करती है। अतः कहा जा सकता है कि जहाँ संघर्ष है, वहाँ कूटनीति आवश्यक है; और जहाँ कूटनीति है, वहाँ संघर्ष को जीत में बदला जा सकता है।

**निष्कर्ष:**

विशाखदत्त द्वारा रचित मुद्राराक्षस नाटक न केवल एक सांस्कृतिक-नाटकीय कृति है, बल्कि यह मौर्यकालीन राजनीति की जटिलता, रणनीति और सत्ता संघर्ष का जीवंत दर्पण भी है। चाणक्य और चंद्रगुप्त मौर्य के सहयोग से सत्ता प्राप्ति के लिए की गई राजनैतिक कूटनीति, दुरभिसंधियाँ, चरित्रों के वैचारिक संघर्ष और विश्वासघात के प्रसंग इस नाटक में अत्यंत सजीव रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

इस नाटक में स्पष्ट होता है कि सत्ता की प्राप्ति मात्र युद्ध से नहीं, बल्कि बुद्धि, चातुर्य, छल और मनोवैज्ञानिक रणनीतियों से संभव होती है। चाणक्य की राजनीतिक दूरदर्शिता, शत्रुओं को तोड़ने और मित्र बनाने की नीति, तथा राष्ट्र की एकता के लिए व्यक्तिगत संबंधों की बलि देना– यह सब मौर्यकालीन सत्ता संघर्ष की पराकाष्ठा को उजागर करता है। वहीं राक्षस जैसे पात्र का नैतिक द्वंद्व और अंततः मौर्य शासन को स्वीकार करना,

राजनीतिक समावेशिता और आदर्शवाद की ओर संकेत करता है।

मुद्राराक्षस में सत्ता के लिए जो संघर्ष है, वह केवल व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा नहीं, बल्कि एक राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया का हिस्सा है। यह मौर्यकाल की उस राजनीतिक परिपक्वता को दर्शाता है जिसमें वैयक्तिक वफादारी और राज्यनीति के बीच संतुलन साधा गया।

इस प्रकार, मुद्राराक्षस मौर्यकालीन राजनीति का प्रतिबिंब है, जो आज भी प्रासंगिक राजनीतिक सिद्धांतों की ओर संकेत करता है।

**संदर्भ :**


1. विशाखदत्त, मुद्राराक्षस, संपादक : डॉ. रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 2018.
2. शर्मा, रामशरण, प्राचीन भारत का इतिहास, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2017.
3. झा, डी.एन., प्राचीन भारत : एक इतिहास, मंथन प्रकाशन, दिल्ली, 2019.
4. उपाध्याय, जगदीश, भारतीय नाट्य साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005,
5. चौधरी, सुरेश, मौर्यकालीन शासन व्यवस्था. भारती प्रकाशन, वाराणसी, 2010,


❑❑❑

शोधालेख

# जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में स्त्री जीवन

❍ शेर सिंह मीणा✡

**संक्षिप्ति :**

हमारा समाज दिन-प्रतिदिन भीतरी और बाहरी प्रभावों से परिवर्तित होता जा रहा है। 1990 के बाद के भारतीय समय और समाज में व्यापक परिवर्तन हुए हैं जिन्होंने साहित्य की सभी विधाओं को समान रूप से प्रभावित किया है। इन विधाओं में से कविता मनुष्य हृदय के सबसे करीब है इसलिए इन परिवर्तनों का प्रभाव सबसे पहले उसी में दिखाई दिया। इस समय समकालीन कविता में अनेक नये चेहरे उभर कर सामने आए हैं जिनमें से जितेन्द्र श्रीवास्तव की उपस्थिति एक अनिवार्य कवि के रूप में दिखाई देती है। उनके पास अपनी परंपरा की गहरी समझ है। इस कारण उन्होंने आलोचनात्मक विवेक और गहरी दृष्टि से अपने समय और समाज की न केवल पड़ताल की है अपितु उनमें बदलाव के सूत्र भी छोड़े। इन्हीं में से एक पक्ष है उनकी स्त्री जीवन से संबंधित कविताएं। स्त्री जीवन से संबंधित उनकी कविताएं स्त्री विमर्श का पुरुष पाठ नहीं है। इन कविताओं में स्त्री का जीवन और स्त्री चेतना के स्वर अनेक छवियों में व्यक्त हुए हैं। इस शोध-आलेख में जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में स्त्री जीवन के स्वरूपों की परख की गई हैं।

**बीज शब्द :** मानवीय सरोकार, बहुआयामी, स्वतंत्र दृष्टिकोण, स्त्री दृष्टि, स्त्री जीवन, प्रतिरोध, प्रतिपक्ष।

समकालीन हिन्दी कविता में जितेन्द्र श्रीवास्तव एक सुपरिचित नाम हैं। वे एक कवि हैं, आलोचक हैं तथा साथ ही एक संपादक भी हैं। जितेन्द्र श्रीवास्तव के अभी तक 'अनभै कथा' (2003), 'असुंदर सुंदर' (2008), 'बिल्कुल तुम्हारी तरह' (2011), 'इन दिनों हालचाल' (2000/2011), 'कायांतरण' (2012), 'उजास' (इसमें 'अनभै कथा', 'असुंदर सुंदर', 'इन दिनों हालचाल' सम्मिलित रूप से हैं, 2019), 'सूरज को अँगूठा' (2020), 'जितनी हँसी तुम्हारे होंठों पर' (2022) मूल कविता संग्रह तथा 'कवि ने कहा' (2016), 'बेटियाँ' (2019), 'रक्त-सा लाल एक फूल' (2020), 'स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती हैं पुरुषों को' (2021) चयनित और संपादित कविता संग्रह प्रकाशित हैं। उनकी कविता और आलोचना गहन मानवीय सरोकारों से संपृक्त हैं। उनकी कविताओं में विषय वैविध्य हैं जिनमें अपने समय और समाज का सच मुखर रूप से अभिव्यक्त हुआ है। ये कविताएँ एक संदर्भी या एक आयामी नहीं हैं बल्कि पाठक जैसे-जैसे उनके भीतर पैठ लगता है वे

✡ *प्रवक्ता-हिंदी, दिल्ली सरकार; पता : C-2/2, रेडियो कॉलोनी, किंग्सवे कैंप, नई दिल्ली; संपर्क : 7531030740; ई-मेल : shersinghmeena19@gmail.com*

मूल्यांकन के नए आयाम खोलती जाती हैं और अनेक संदर्भों को उद्घाटित करती हैं। उनकी कविताएं पैम्पलेटी या नारेबाजी की कविताएं नहीं हैं और न ही उपदेश देती हैं अपितु पाठकों में चेतना, तर्क और विवेक का समावेश कर आलोचनात्मक तथा स्वतंत्र दृष्टिकोण पैदा करती है। ताकि सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था में विद्यमान विसंगतियों को उजागर कर इनमें व्याप्त जड़ता को तोड़ा जा सके। वे भलीभाँति जानते हैं कि परिवर्तन का मूल विचार में हैं। शरीर खत्म हो जाता है लेकिन विचार जीवित रहते हैं। इस संदर्भ में डॉ. चैनसिंह मीना लिखते हैं कि "प्रतिरोधी व्यक्ति या समाज को भले ही नेस्तनाबूद कर दिया जाए लेकिन विचारों को नहीं।"[1] यही कारण है कि कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव अपनी कविताओं में विचारों की परंपरा को जीवित रखते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसे हस्तांतरित करते हैं। उनकी स्त्री जीवन से संबंधित कविताओं में चेतना का यह हस्तांतरण मुखर रूप से दिखाई पड़ता है।

ध्यातव्य है कि कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव का काव्यवृत्त व्यापक हैं। उसमें स्त्री, किसान, दलित-दमित, मजदूर तथा श्रमिक वर्ग की पीड़ा को न केवल चित्रित किया है अपितु उन कारणों को भी स्पष्ट किया गया है जिनके कारण यह सब हो रहा है। साथ ही बदलाव का मार्ग भी प्रशस्त किया है। यहाँ उनके स्त्री जीवन से संबंधित सरोकारों को मूल्यांकित करने का प्रयास है। जितेन्द्र श्रीवास्तव की स्त्री दृष्टि सुलझी हुई है, व्यापक है। स्त्री जीवन के तमाम संदर्भ उनकी कविताओं में रूपायित हुये हैं। आलोचक 'अरुण होता' कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की स्त्री दृष्टि के बारे में लिखते हैं कि "बताना अनावश्यक न होगा कि कवि की अपनी पत्नी-प्रियतमा, बेटियों से संबंधित कविताओं के अलावा 'लड़कियाँ', 'दु:ख पहाड़ का', 'किरायेदार की तरह', 'तुम कहाँ हो सुलेखा', 'सपने में एक लड़की सोनमछरी', 'परवीन बॉबी', 'पुकार' आदि पचासों कविताएँ हैं जहाँ नारी का मुक्ति-संघर्ष रूपायित हुआ है। नारी की इच्छा के बारे में बताया गया है कि नारी चाहती है संवेदना का विस्तार, सहभागिता, बराबरी का अधिकार। वह साथ-साथ चलने का सपना साकार करना चाहती है। नारी-विमर्श का पुरुष पाठ नहीं हैं जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताएँ। कवि 'कायांतरण' से बड़ी शिद्दत के साथ अपनी स्त्री को स्पष्ट करता है। व्यष्टि से समष्टि की यात्रा जितेन्द्र की खूबी है। स्त्री दोयम दर्जे की नहीं, सहगामिनी है। वह मनुष्य पहले है नारी बाद में। इस दृष्टिकोण ने जितेन्द्र को विशेष महत्व प्रदान किया है।"[2]

जितेन्द्र श्रीवास्तव के काव्य में उपस्थित स्त्री पात्र किसी बंधन को स्वीकार नहीं करते हैं बल्कि उस प्रत्येक व्यवस्था के प्रति प्रतिरोध दर्ज करते हैं जो उन्हें बांधती है या उनके दायरे को सीमित करती हैं। यह संभव हो पाया है चेतना के जागृत होने से जिसे वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करते हैं। 'रामदुलारी' कविता उस जागृत चेतना का विस्तार है जिसे घास गढ़ती औरतें अपनी बेटियों में पैदा करती है। "घास गढ़ती औरतें/ बच्चों की पढ़ाई-लिखाई और/ सेहत के लिए/ खूब लड़ती हैं पतियों से/ जायज बातों पर खुश/ और नाजायज बातों पर/ साड़ी खूंटिया कर लड़ने को तैयार/ घास गढ़ती औरतें/ कभी नहीं सिखाती हैं जवान होती बेटियों को /कि पति परमेश्वर होता है!/ घास गढ़ती औरतें/ सोने से पहले सुबह के लिए/ बोरसी की राख में छिपा कर/ राख देती हैं थोड़ी सी आग।"[3] इसी कारण 'रामदुलारी' कविता में पितृसत्तात्मक व्यवस्था के बनाएँ प्रतिमानों का नकार मिलता हैं। उत्पीड़न, अत्याचार, शोषण और हिंसा को जायज ठहराने की प्रवृत्ति कि पति परमेश्वर होता है इसलिए पत्नी को उस पर हाथ नहीं उठाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से वह पाप की भागीदार बन जाती है। पुरुष भले ही पीट-पीट कर स्त्री की जान ले ले। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव इस दकियानूसी परंपरा का प्रतिपक्ष रचते हैं। रामदुलारी अपने पियक्कड़ पति की पिटाई का प्रतिरोध करती है और उसकी जमकर धुलाई करती है। इसलिए गाँव की औरतें उसे योद्धा की तरह याद करती है। कवि लिखते हैं कि "सन् दो हजार दस में तिरासी वर्ष की आयु में/ दुनियाँ से विदा हुई रामदुलारी ने/ कोई तिरसठ वर्ष पहले सन् उन्नीस सौ सैंतालीस में/ पियक्कड़ पति

की पिटाई का प्रतिरोध करते हुए/ जमकर धुला था उसे/.... रामदुलारी ने वर्षों पहले/ जो पाठ पढ़ाया था अपने पति को/ उसका सुख भोग रही है/ गाँव की नई पीढ़ी की स्त्रियाँ/ उनमें गहरी कृतज्ञता है रामदुलारी के लिए/ वे उन्हें 'मर्द मारन' नहीं/ 'योद्धा' की तरह याद करती हैं।"[4] इसी तरह 'परवीन बॉबी' कविता में कवि ने समाज में व्याप्त नैतिक वर्जनाओं को तोड़ने वाली अभिनेत्री परवीन बॉबी के योगदान को रेखांकित किया है, उसे 'शहीद' का दर्जा दिया है। वह अपनी 'आत्म चेतना' के जागृत होने के कारण ही समाज और सिनेमा जगत में व्याप्त बंधनों को तोड़कर स्त्रीत्व के मानचित्र का विस्तार करती है। इस संदर्भ में कवि लिखते हैं कि "आज संभव हैं यदि/ अपने बिंदासपन के साथ/ ऐश्वर्या राय, करीना कपूर, रानी मुखर्जी/ प्रियंका चोपड़ा और अन्य कई के साथ/ नई-नई अनुष्का शर्मा रुपहली दुनिया में/ तो इसलिए कि पहले कर चुकी हैं संघर्ष/ परवीन बॉबी और जीनत अमान जैसी अभिनेत्रियाँ/ स्त्रीत्व के मानचित्र के विस्तार के लिए/ उन्होंने ठेंगा दिखा दिया था वर्जनाओं को/ उन्हें परवाह नहीं थी कि उन्होंने खुद को परखा था/ अपनी आत्मा के आईने में/ वहीं सेन्सर था उनका/ परवीन बॉबी ने अस्वीकार कर दिया था/ नैतिकता के बाहरी कोतवालों को/ उसे पसंद था अपनी शर्तों का जीवन/ परवीन बॉबी एक अट्टहास थी व्यंग्य की/ उसके होने ने उजागर किया था/ हमारे समाज का ढोंग/ उसकी मौत एक त्रासदी थी/ उसकी गुमनामी की तरह/ लेकिन वह प्रत्याख्यान नहीं थी उसके स्वप्नों की/ भारतीय स्त्रियों के मुक्ति संघर्ष में/ याद किया जाना चाहिए परवीन बॉबी को/ पूरे सम्मान से एक शहीद की तरह।"[5]

जितेन्द्र श्रीवास्तव की 'रामदुलारी' और 'परवीन बॉबी' कविताओं के माध्यम से स्त्री मुक्ति संघर्ष की विस्मृत होती परंपरा को याद किया जाना चाहिए। मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल की स्त्रियों के योगदान को रेखांकित किया जाना चाहिए। भक्तिकाल में मीरा ने कृष्ण भक्ति के माध्यम से पितृसत्ता और सामंती शासन द्वारा स्त्री पर लगाए गए बंधनों को तोड़ा। रजिया बेगम और लक्ष्मी बाई ने इस भ्रम को तोड़ा की स्त्रियाँ शासन की बागडोर नहीं संभाल सकती है। केरल में नांगेली ने 'मूलाकर्म' जैसी सामाजिक और सामंती कुप्रथा का विरोध किया। यह कार्य निरापद रूप से नहीं हुआ। उन्हें भी लांछन सहने पड़े, विरोध का सामना करना पड़ा और अंत में जीवन का बलिदान करना पड़ा। इसलिए कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव 'रामदुलारी' और 'परवीन बॉबी' को 'योद्धा' और 'शहीद' के रूप में याद करने का आग्रह करते हैं। ताकि समाज उनके योगदान को विस्मृत न कर पाए और उन्हें वह मान-सम्मान मिले जिसकी वे हकदार हैं। बकौल डॉ. चैनसिंह मीना "परवीन बॉबी का संघर्ष जहाँ सिनेमा जगत से संबद्ध स्त्रियों के लिए महत्वपूर्ण है वही रामदुलारी जैसा पात्र ग्रामीण परिवेश की स्त्री के लिए महत्वपूर्ण है। प्रत्येक समाज से ऐसा स्त्री पात्र कवि ने चुना है जो आने वाले समय में स्त्री जीवन को प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।"[6]

जितेन्द्र श्रीवास्तव 'संजना तिवारी' के माध्यम से पूंजीवादी बाजार की संस्कृति का प्रतिपक्ष रचते हैं और ऐसी स्त्री चेतना की निर्मिति करते हैं जो तमाम प्रलोभनों से मुक्त होकर आपने आत्म का विकास करती है, स्वाभिमान और गरिमापूर्ण जीवन-यापन करती है। संजना तिवारी आर्थिक और मानसिक रूप से स्वतंत्र तथा आत्मनिर्भर स्त्री है। कवि लिखते हैं "चमक-दमक/ लाभ-हानि/ प्रेम और घृणा के गणित में पड़े संसार को/ ठेंगा दिखती हुई/ वे फुटपाथ पर बेचती हैं दुनिया का महान साहित्य/ और उन पत्रिकाओं को जिनमें/ शृंगार, जिम और मुनाफे पर कोई लेख नहीं होता/ वैसे वे चाहतीं तो खोल सकती थीं/ प्रसाधन का कोई छोटा-सा स्टोर/ या ढूंढ सकती थीं अपने लिए कोई नौकरी/ न सही किसी मल्टीनेशनल कंपनी में/ किसी प्रकाशन संस्था में टाइपिस्ट की ही सही।"[7] लेकिन वह ऐसा नहीं करती है। वह जानती है कि खुद को मिटाएँ बिना, समझौते किए बिना वे चेतना का विकास और प्रसार नहीं कर सकती। इसलिए ही तो किताबें बेचती है ताकि एक पुस्तक

संस्कृति के विकास के साथ घृणा, नफरत, हिंसा और संकीर्ण मानसिकता की प्रवृत्तियों को समाप्त कर बेहतर मनुष्य समाज निर्मित कर एक स्वस्थ सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का विकास किया जा सके। उन सपनों को बचाया जा सके जिन्हें यह पूंजीवादी व्यवस्था निगल जाना चाहती हैं।

कवि की स्पष्ट समझ है कि आर्थिक स्वतन्त्रता स्त्री के सर्वांगीण विकास के लिए अनिवार्य तत्व है। इसके अभाव में उसे समझौते का जीवन जीने पर विवश होना पड़ता है, अपनी पहचान खोनी पड़ती है। कवि लिखते हैं कि "चार वर्ष बाद/ आज अचानक दिखी वह/ 'कहो ना प्यार है' का पोस्टर निहारती हुई/ चार वर्ष पहले वसंत के दिनों में/ आभा चतुर्वेदी से आभा द्विवेदी हुई/ वह आभा शर्मा होना चाहती थी/ पर जो न हो सका/ विवश हो उसे आँख के काजल की तरह धोकर/ उसे बनना पड़ा आभा द्विवेदी।"[8] कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव महज कविता लिखने के लिए कविता नहीं लिखते हैं। उसके पीछे उनके 'गहरे निहितार्थ' होते हैं। उनके काव्य की स्त्री विवशता में जीवन जीना पसंद नहीं करती है। अपने कम्फर्ट जोन को तोड़कर संघर्ष का रास्ता चुनती है और अपनी मर्जी का जीवन जीती है। इस कारण कवि लिखते हैं कि "मैंने पूछा पति-परिवार के बारे में/ वह बताने लगी माँ-बाप भाई के बारे में/ मैंने पता पूछा घर का/ तो देते हुये नंबर कहा उसने/ अकेले रहती हूँ/ आभा चतुर्वेदी लिखती हूँ/ आस-पास के लोग इसी नाम से जानते हैं।"[9] वह पति का त्याग कर देती है। उसे अपने सरनेम के साथ जीना पसंद है। वह समझौता नहीं करती है। अपने घर की चाहत और इच्छा को व्यक्त करना पराधीनता की बेड़ियों को तोड़ना है। आभा चतुर्वेदी की तरह ही जितेन्द्र श्रीवास्तव की अन्य स्त्री पात्र यथास्थितिवाद का विरोध करती हैं। इसी से बदलाव का रास्ता निर्मित होता है। इस कारण वे स्त्री मन की आकांक्षा को लिखते हैं कि "मैं अबला नहीं/ एक स्त्री हूँ/... मुझे नहीं चाहिए किसी और के हिस्से का प्रकाश/ किसी और के हिस्से का साहस।"[10] बकौल डॉ. चैनसिंह मीना "एक स्त्री के लिए पूरा सम्मान और गरिमा जितेन्द्र श्रीवास्तव के समूचे काव्य में मौजूद हैं।"[11]

आज पूंजीवादी व्यवस्था ने स्त्री को स्वतन्त्रता तो प्रदान की है लेकिन किस कीमत पर? जवाब है उसे वस्तु में तब्दील कर। विज्ञापनों की संस्कृति ने स्त्री को महज देह में परिवर्तित कर दिया है। उसे समानता, अस्तित्व की लड़ाई, मनुष्य का दर्जा पाने की लड़ाई, सभी अधिकारों की लड़ाई से भटका दिया है। इस कारण कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव ने कविताओं के माध्यम से जागरूक स्त्री पात्रों का सृजन किया हैं । वे इस व्यवस्था की चालाकियों को जान चुकी हैं। इसलिए कहती हैं कि "मुझे देह के उत्सव में नहीं डुबना/ अभी लड़नी है लम्बी और निर्णायक लड़ाई/ मैं महज एक देह नहीं/ स्वप्न हूँ/ ....प्रलोभन चाहे जितना बड़ा हो मैं झुकूंगी नहीं किसी डीह के आगे/ ...मैं थूकती हूँ/ लालसाओं के बजबजाते महलों पर/ मेरी नजर में वे गए बीते हैं किसी घूरे से।"[12] वे किसी मुगालते में नहीं रहना चाहती हैं। इसलिए भूमंडलीकरण, बाजारवादी शक्तियों के प्रलोभनों तथा पितृसत्ता के छद्म व्यवहारों को नकारती है।

इसी क्रम में देखे तो 'पत्नी पूछती है कुछ वैसा ही प्रश्न जो कभी पूछा था माँ ने पिता से' शीर्षक कविता महत्वपूर्ण कविता है। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव ने इसमें प्रश्न पूछने की संस्कृति, राजनीतिक अधिकारों के प्रति जागृत स्त्री चेतना और लोकतन्त्र में परिवार और राजनीतिक व्यवस्था में स्त्रियों की हिस्सेदारी जैसे सवालों को अपनी माँ और पत्नी के माध्यम से उठाया है। यह हस्तांतरित होती हुई चेतना है। आजादी के इतने वर्षों बाद भी संसद और विधानसभाओं में महिलाओं का प्रतिनिधित्व बहुत कम है जबकि आज लोकतन्त्र की व्यवस्था है। इस स्थिति पर चिंता व्यक्त करते हुए उपराष्ट्रपति एम. वेंकैया नायडू ने कहा कि "17वीं लोकसभा में सबसे अधिक 78 महिला सदस्य हैं, लेकिन वे कुल संख्या का केवल 14% हैं। संसद और विधानसभाओं में महिलाओं के कम प्रतिनिधित्व को समाप्त किया जाए, जिनका जनसंख्या में लगभग 50% हिस्सा है।"[13] ये दोनों राजनीतिक

संस्थाएं नीति-निर्माण का कार्य करती है। जाहिर है कि अगर स्त्रियों का प्रतिनिधित्व बढ़ेगा तो बहुसंख्यक नीतियाँ जो पुरुषों और समाज के कुछ वर्गों के हितों में ही बनती थी, उनमें कमी आएगी। इसलिए "प्रेम की तरह लोकतंत्र दिखता खुला-खुला सा/ पर रहस्य है!/ जब जो चाहे/ कभी भाषा से/ कभी शक्ति से/ कभी भक्ति से/ कभी छल कभी प्रेम से/ अपनी सुविधा की व्याख्या रच लेता है।"[14] यही कारण है कि आज भी महिलाओं के राजनीतिक आरक्षण को लेकर बहस होती है उसका विरोध होता है। पंचायतीराज व्यवस्थाओं में जो आरक्षण मिला है उसकी भी वे वास्तविक उत्तराधिकारी नहीं हैं। वहाँ भी पितृसत्ता के कारण 'प्रधान पति' और 'सरपंच पति' का कान्सैप्ट विद्यमान हैं। जिसके कारण वे वास्तविक रूप से अपने अधिकार और शक्तियों का प्रयोग नहीं कर पाती हैं और महज एक प्रतीकात्मक अधिकारी बनकर रह गई हैं। ऐसे में कविता की ये पंक्तियाँ और भी मार्मिक तथा प्रासंगिक लगती हैं कि "और काठ के घोड़े-सा लोकतंत्र टुकुर-टुकुर ताकता रह जाता है।"[15] इस कारण आज भी लोकतंत्र अल्पतन्त्र बनकर रह गया है। इस व्यवस्था में बदलाव लाना अनिवार्य है ताकि देश की आधी आबादी अपने राजनीतिक अधिकारों का वास्तविक प्रयोग कर सके और समाज व देश के निर्माण में अपनी भूमिका का निर्वाह कर सके। कवि इस कविता के माध्यम से व्यवस्था की इस हकीकत को सामने रखकर उसमें बदलाव के सूत्र छोड़ता है। ताकि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना हो सके।

कवि इस बात को स्पष्ट करते हैं कि ऊपरी तौर से तो प्रेम और परिवार की व्यवस्था में समानता दिखाई देती है लेकिन वास्तविक रूप में होती नहीं है। क्योंकि इन दोनों की व्यवस्थाओं में ज्यादातर स्त्री को ही समझौता करना पड़ता है। उन्होंने अपनी कविताओं में इनके प्रति जागृत होती स्त्री की चेतना को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। उनकी कविताओं की स्त्री क्षणिक आवेश या आक्रोश के भाव से नहीं बल्कि अपनी चेतना से पितृसत्ता और लोकतंत्र की व्यवस्था पर सवाल करती है, उससे प्रश्न पूछती है। कवि लिखते हैं कि "कोई उद्विग्नता, क्षणिक आवेश, आवेग, आक्रोश न था उसमें/ जैसे कही गई बातें महज प्रतिक्रिया न हों/ निष्पत्तियाँ हों सघन अनुभव की/ लोकतंत्र की आकांक्षा से भरे एक जीवन की/ और यह सब सुनते हुये/ जादुई वाणी वाले सिद्ध वक्ता मेरे पिता/ चुप थे बिल्कुल चुप/ जैसे मैं हूँ इस समय/ उस संवाद के ढाई दशक बाद/ अपनी पत्नी के इस सवाल पर/ ए जी, ये बराबरी क्या होती है?"[16] इसका जवाब किसी पुरुष के पास नहीं है। वह तो आज तक स्त्री की आवाज को दबाता हुआ आया है। एक स्त्री समानता, स्वतन्त्रता से संपृक्त मानवीय जीवन चाहती है। जो लोग बड़े-बड़े मंचों से स्त्री समानता और अधिकारों की बात करते हैं, उनके छद्म को भी स्त्री ने पहचान लिया है। ये लोग मंच पर बड़ी-बड़ी बात करते हैं लेकिन वास्तविक जीवन में उनका व्यवहार नियंत्रक वाला ही होता है। कवि लिखते हैं कि "जो शब्दों में है/ अभिव्यक्ति में पहुँच नहीं पाता/ जो अभिव्यक्ति में पहुँचता है/ जीवन में उतर नहीं पाता"[17] जबकि आवश्यकता है कथनी और करनी के अंतर को समाप्त करने की। कानूनों से नहीं मानसिक सोच में परिवर्तन होने से यथास्थितिवाद में बदलाव आएगा। तभी परिवार और लोकतंत्र की व्यवस्था में सबकी भागीदारी होगी, सबके अधिकार सुरक्षित होंगे।

**निष्कर्ष :**

स्वाधीन चेतना ही वह 'नया विहान' है जिसके जागृत होने से स्त्री जीवन में व्याप्त पितृसत्ता, सामंती मानसिकता, भूमंडलीकरण, उदारीकरण से विकसित पूंजीवादी और बाजारवादी शक्तियों के कारण असमानता, पराधीनता, सामाजिक-सांस्कृतिक बंधनों को तोड़ा जा सकता है। जिससे सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक व्यवस्था में बराबर की भागीदारी मिल सकेगी। समाज की, देश की और विश्व की बेटी, बहन, माँ, दादी, नानी आदि स्त्री के जितने भी रूप हैं, उनके जीवन में व्याप्त अंधेरा जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं से निर्मित स्त्री

चेतना रूपी उजास को पाकर दूर हो रहा है और आगे भी होता रहेगा।

**संदर्भ :**


1. मीना, डॉ. चैनसिंह, कवि का विश्व, कलमकार पब्लिशर्स प्रा. ली., नई दिल्ली, प्र. सं., 2021, पृ. 120.
2. होता, (सं) अरुण, जितेन्द्र श्रीवास्तव : एक शिनाख़्त, प्रलेक प्रकाशन, प्र. सं., 2022, पृ. 154-155.
3. श्रीवास्तव, जितेन्द्र- उजास, सेतु प्रकाशन, नोएडा, प्र. सं. 2019, पृ. 265, 266.
4. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, सूरज को अँगूठा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2020, पृ. 19, 20.
5. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, कायांतरण, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2012, पृ. 58, 59.
6. मीना, डॉ. चैनसिंह, कवि का विश्व, कलमकार पब्लिशर्स प्रा. ली., नई दिल्ली, प्र. सं. 2021, पृ. 144.
7. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, सूरज को अँगूठा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2020, पृ. 41, 42.
8. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, उजास, सेतु प्रकाशन, नोएडा, प्र. सं. 2019, पृ. 53.
9. वही, पृ. 54.
10. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, सूरज को अँगूठा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं., 2020, पृ. 44, 45.
11. मीना, डॉ. चैनसिंह, कवि का विश्व, कलमकार पब्लिशर्स प्रा. ली., नई दिल्ली, प्र. सं. 2021, पृ. 146.
12. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, सूरज को अँगूठा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2020, पृ. 44, 45.
13. https://pib.gov.in/Pressreleaseshare.aspx?PRID=1700262.
14. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, सूरज को अँगूठा, पृ. 14.
15. वही।
16. वही, पृ. 14, 15.
17. वही.


❑❑❑

शोधालेख

# समकालीन हिंदी कविता के देसी कवि हैं दिनेश कुशवाह

○ पंकज कुमार चौधरी✡
○ डॉ. रमेश प्रसाद गुप्ता✡✡

**संक्षिप्ति :**

दिनेश कुशवाह समकालीन हिंदी कविता के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। उनकी कविताओं में भारतीय समाज की उन विसंगतियों का रेखांकन है जो देश की बहुसंख्यक आबादी को इतिहास निर्माण की प्रक्रिया से बाहर रखती है। यह वही आबादी है जो केवल पेट की चिंता में निमग्न अभिशप्त जीवन जीते हुए तमाम तरह की त्रासदी को झेलने के लिए बाध्य है। उसका जीवन भव्य मनुष्यता की आभा से आज भी वंचित है। इसे आप भारत का वंचित समाज कह सकते हैं। यही देश का वास्तविक हिस्सा है। इस हिस्से में स्त्री, दलित, किसान, मजदूर, आदिवासी सब आते हैं। इनसे ही देश है। ये देशी लोग हैं। दिनेश कुशवाह की कविताएँ इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती हैं और इनके जीवन की तस्वीर को अलग-अलग कोणों से देखती है, समझती है, उससे संवेदनात्मक रिश्ता कायम करती है। प्रस्तुत शोधालेख में दिनेश कुशवाह की कविताओं को इन देशी लोगों के संदर्भ में समझने का प्रयास किया गया है।

**बीज शब्द :** देशी, लोक, जाति, वर्ण-व्यवस्था, सामाजिक विभाजन।

दिनेश कुशवाह बड़े कवि हैं। यह उनकी संवेदनशीलता और मानवीयता का प्रमाण है कि उन्होंने उन सभी विषयों और व्यक्तियों पर कविताएँ लिखी हैं जिनसे उनकी उदात्तता और विश्व बंधुता परिलक्षित होती है। उनकी कविताओं का रेंज इतना बड़ा है कि उसमें एक तरफ यदि राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विद्रूपताओं को प्रश्नांकित करने की हिम्मत है, तो वहीं दूसरी तरफ मीना कुमारी, स्मिता पाटिल, हेलन, रेखा, खजुराहो निहितोपदेश, खजुराहो में केली, खजुराहो में मूर्तियों के पयोधर, इसी काया में मोक्ष, पिता की चिता जलाते हुए आदि उनके क्लासिक सौंदर्य बोध और मार्मिकता से हमारा परिचय कराता है। लोक और शास्त्र का इतना विलक्षण प्रयोग समकालीन हिंदी कविता में बहुत कम है। यह उनके काव्य कौशल का परिणाम है कि उनके यहाँ सम-सामयिकता भी काव्यात्मकता और दीर्घजीविता में कन्वर्ट हो जाती है। दिनेश कुशवाह हिंदी के उन कुछेक कवियों में हैं जिन्होंने कविता को एक गंभीर कर्म के रूप में बरता है।

✡ *शोधार्थी, विश्वविद्यालय हिंदी-विभाग, बाबासाहेब भीमराव अम्बेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर*

✡✡ *शोध निर्देशक, आर.डी.एस कॉलेज, मुजफ्फरपुर, बाबासाहेब भीमराव अम्बेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर*

दिनेश कुशवाह के किसी भी पक्ष पर लिखा जा सकता है और लिखा भी गया है। उनकी कविताओं की गाहे-बगाहे खूब चर्चा होती है। लेकिन यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाना परम जरूरी है कि उनकी सम्पूर्णता में चर्चा नहीं करके उनके उस पक्ष पर चर्चा की जाती है जिससे कि उनका किरदार समकालीन हिंदी कविता के समुद्र में खो जाता है। या उनके उस पक्ष को रेखांकित नहीं किया जाता है जिसने आधुनिक हिंदी कविता की किताब में सबसे बड़ा और मुख्य अध्याय जोड़ा। दिनेश कुशवाह के उस चैप्टर का नाम है जाति या वर्ण-व्यवस्था। मेरा खयाल है कि यह वह चैप्टर है जो मेरे जैसे पाठकों का सबसे ज्यादा ध्यान आकर्षित करता है क्योंकि एक ओर यदि यह भारत का सबसे प्राचीन और बड़ा सवाल है, तो वहीं दूसरी ओर यह एक ऐसा सवाल भी है जो जितना पुराना होता जा रहा है उसके पांव उतने ही पसरते जा रहे हैं। लेकिन समकालीन हिंदी कविता की मुख्यधारा में यह सवाल गायब है। यह सवाल करना कुफ्र है। यह अघोषित रूप से सेंसर्ड और बैन्ड है। अगर आप यह सवाल करते हैं तो समझिए कि आप खुद को देशनिकाला दे देने को मजबूर होंगे। उस देश में जहाँ आप जाति के बगैर पर भी नहीं मार सकते, वहाँ हिंदी के महान कवि आपको यह कहते हुए मिलेंगे कि 'जाति' कहाँ है यह तो कब का खत्म हो गई।' इस विकट परिस्थिति में दिनेश कुशवाह अपने दूसरे काव्य संग्रह 'इतिहास में अभागे' को यदि इन पंक्तियों से शुरू करते हैं, तो इसे उनका दुस्साहस ही कहा जाएगा-

"एक बात जान लो
आंच सांच पर ही आती है
झूठ का कुछ नहीं बिगड़ता
और जाति है सहस्राब्दियों का सबसे बड़ा झूठ
जो सच से बड़ा हो गया है।"[1]

अब सवाल यह पैदा होता है कि जाति जैसे झूठ को किसने सबसे बड़ा सच बनाया? वही न, जिसने जाति की आड़ में हजारों साल से जीवन के तमाम कारोबार और प्रपंचों को बदस्तूर जारी रखा और यही समझता रहा कि दुनिया ऐसे ही चलती है। आखिर कवि दिनेश कुशवाह ने भी तो इस बात को स्वीकारा कि जाति भले ही सबसे बड़ा झूठ हो लेकिन आज वह सबसे बड़ी सच्चाई बन गई है। अगर गौर से देखें तो सम्पूर्ण भारतीय साहित्य 'जाति' की बुनियाद पर आपको टिका हुआ मिलेगा। ऐसा इसलिए क्योंकि जाति ही परोक्ष रूप से समाज, राजनीति और धर्म को संचालित करती है। उल्लेखनीय है कि शासक वर्ग द्विज कभी भी यह घोषित करके राजपाट नहीं चलाता कि वह अपने वर्ग के हितों का ही पोषण करेगा। वह यही घोषणा करेगा कि राज्य के समस्त नागरिक उसकी संतान हैं और उनके अधिकारों की रक्षा उसकी परम नैतिक जिम्मेदारी है। लेकिन हकीकत में वह द्विज हित को ही पुष्ट करता मिलेगा। वहीं, गैर-द्विजों को कभी किसी तरह की सत्ता प्राप्ति हो भी जाती है तो वे दलित-बहुजन का ढिंढोरा पीटकर राज-काज संभालेगा और बहुजन हिताय बहुजन सुखाय काम करेगा। आप घोषित रूप से जाति-जाति करके मुफ्त में बदनाम होते रहिए और वे अघोषित रूप से जात-पात करते हुए सारा हलवा-पूड़ी डकारते जाएंगे। द्विज शासक वर्ग और गैर द्विज शासक वर्ग में यही मौलिक अंतर है।

हमारे तीन ग्रंथ महाभारत, रामायण और गीता के मूल में प्रकारांतर से वर्ण-व्यवस्था है, जिनसे चारों वर्ण से जुड़ी कहानियाँ और दृष्टांत मिलने शुरू हो जाते हैं। प्रमाण के तौर पर इन ग्रंथों के रचनाकाल और तत्कालीन शासन-व्यवस्था भी देखी जा सकती है। इसलिए समकालीन रचनाएँ महाभारत, रामायण और गीता की विकास परंपरा में आती हैं। इस विकास परंपरा में उनकी रचनाएँ तो आती ही हैं जो जाति के नाम पर सभी तरह के भेदभाव, अन्याय और असमानता को खत्म करने के लक्ष्य को लेकर रचनाएँ करते हैं, और उनकी भी जाति को नहीं मानते। बकौल फणीश्वरनाथ रेणु, "जाति बहुत बड़ी चीज है। जात-पात मानने वाले की भी जाति होती

है।" दिनेश कुशवाह इस बात को बहुत साफ-साफ और गहराई से जानते हैं क्योंकि 'इतिहास में अभागे' जैसी रचना वैसे कतई संभव नहीं-

"वे अभागे कहीं नहीं है इतिहास में
जिनके पसीने से जोड़ी गईं
भव्य प्राचीरों की एक-एक ईंट
पर अभी भी हैं मिस्र के पिरामिड
चीन की दीवार और ताजमहल।

सारे महायुद्धों के आयुध
जिनकी हड्डियों से बने
वे अभागे
कहीं भी नहीं हैं इतिहास में।

पुरातत्ववेत्ता जानते हैं
जिनकी पीठ पर बने
बकिंघम पैलेस जैसे महल
वे अभागे भूत-प्रेत-जिन्न
कुछ भी नहीं हुए इतिहास के।"[2]

कवि दिनेश कुशवाह की यह कविता पूरी दुनिया के मजदूरों को संबोधित करते हुए उनकी विश्वदृष्टि का उदाहरण पेश करती है। कविता में विश्वयुद्धों से लेकर मिस्र के पिरामिड, लंदन के बकिंघम पैलेस और चीन की दीवार तक का वर्णन आया है। भारत के परिवेश का वर्णन तो है ही। कवि का मंतव्य यहां स्पष्ट है कि एशिया से लेकर यूरोप, अफ्रीका और अमेरिका तक के मजदूरों और किसानों का दुख एक समान है। कवि की चिंता है कि यह कैसी त्रासदी है कि जिन्होंने दुनिया का निर्माण किया वही इतिहास से बहिष्कृत हैं। इतिहास की किताबों में उनका जिक्र तक नहीं। कवि की संवेदना यहाँ हाहाकार कर उठती है। कविता की अंतर्ध्वनियों से उनकी चीत्कार सुनी जा सकती है।

भारत के मजदूरों और किसानों की स्थिति बाकी दुनिया से अलग और भयावह है। यहाँ कमेरा वर्ग पहले दलित-बहुजन है, बाद में मजदूर और किसान। इसलिए ऊँच-नीच में विभाजित भारतीय समाज में उनको दोहरी-तिहरी मार झेलनी पड़ती है। भीमराव आम्बेडकर ने सामाजिक विभाजन के रूप में इसकी पहचान की थी और उन्होंने इसके खिलाफ ऐतिहासिक लड़ाई लड़ी। प्रयागराज के करछना में एक मजदूर को काम की मनाही करने पर ठाकुरों ने इसलिए जिंदा जला दिया क्योंकि वह एक दलित था। मनुस्मृति में स्पष्ट विधान है कि शूद्रों-अतिशूद्रों को द्विजों की अवज्ञा करने पर मौत के घाट उतार दिया जाए। वैसे शायद ही कोई दिन ऐसा गुजरता हो जिस दिन किसी न किसी कमेरे की हत्या न की जाती हो।

दिनेश कुशवाह इतिहास का निर्माण करने वालों को यदि इतिहास में नहीं देख पाते हैं तो उसके मूल में यह सारी बातें नत्थी हैं। आज इतिहास से उन सारे प्रतीकों और प्रतिरोध के औजारों को नष्ट कर देने का सिलसिला भारी पैमाने पर हो रहा है जिनसे सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक सत्ता की तथाकथित भावनाएँ आहत हो जाती हैं। शूद्रों-अतिशूद्रों, स्त्रियों और कमेरों के मान-सम्मान की लड़ाई लड़ने वाले जोतिबा फुले पर बनी फिल्म को सेंसर बोर्ड रीलीज करने से इसलिए मना कर देता है क्योंकि फिल्म में सावित्रीबाई फुले पर

एक ब्राह्मण बालक को पत्थर और गोबर फेंकते हुए दिखाया गया है। अब सवाल यह पैदा होता है कि सेंसर बोर्ड की सलाह पर यदि फिल्म के कंटेंट से छेड़छाड़ किया जाता है, तो हमें सही और सच्चा इतिहास कहाँ से देखने और पढ़ने को मिलेगा? और सच्चा और सही इतिहास अगर नहीं लिखा गया, तो फिर दुनिया के जो निर्माता हैं, वे तो इतिहास से गायब ही रहेंगे। ऐतिहासिक तथ्यों से यदि इसी तरह तोड़-फोड़ और खिलवाड़ होता रहा, तो दुनिया का जो कमेरा वर्ग है, जिसे भारत में शूद्र, अतिशूद्र के नाम से संबोधित किया जाता है, इतिहास से सदा के लिए गायब कर दिए जाएंगे।

कवि दिनेश कुशवाह की यह कविता कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। 'इतिहास का अंत' पर कई दशकों से जो वैश्विक बहस चल रही है, उसके अंतर्निहित मंतव्यों का यह कविता एक ओर जहाँ उसका काव्यात्मक चित्रण करती है, वहीं दूसरी ओर दलित-बहुजन विमर्श को भी यह एक आकार प्रदान करती है। यहाँ कवि से बिलकुल असहमत नहीं हुआ जा सकता कि इतिहास के असली निमार्ताओं का इतिहास में न तो भूत-प्रेत-जिन्न के रूप में वर्णन मिलता है और न ही जानवरों से भी बदतर जीवन जीने वालों के रूप में। यह कविता अपने मूल में न्याय, करुणा, मैत्री, विश्व बंधुत्व और प्रेम की पुकार है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में इस कविता की प्रासंगिकता इसलिए भी ज्यादा महत्वपूर्ण है क्योंकि आम्बेडकर की अध्यक्षता में बने संविधान के प्रावधानों को लागू करने की दिलचस्पी मौजूदा शासकवर्ग में नहीं है। भारतीय संविधान के विधानों का यदि सही-सही पालन हुआ होता तो आज भी पाठशालाओं में पढ़ने जाते बच्चों को भालों की नोंक पर नहीं टांग दिया जाता, बच्चियों की कोख को कूड़ेदान नहीं बना दिया जाता, कुमारियों के शव तालाबों और नदियों में तैरते हुए नहीं मिलते और दलित दूल्हों को घोड़ों से नहीं उतार दिया जाता।

कवि दिनेश कुशवाह की इस कविता में दरअसल इतिहास के अभागों से लेकर वर्तमान और भविष्य के अभागों की भी गहरी चिंता प्रकट हुई है। कवि इतिहास का सिरा पकड़कर वर्तमान और भविष्य का खाका इसलिए पेश कर पाता है क्योंकि उन्हें इतिहास और सामाजिक अवस्थिति का गहरा बोध और ज्ञान है। उनका चित्रण इसलिए भी प्रामाणिक और विश्वसनीय बन पड़ा है, क्योंकि उनको स्वयं भी कमोबेश सामाजिक अन्याय और दुरभिसंधियों का सामना करना पड़ा होगा। 'इतिहास में अभागे' की पीड़ा और मर्म को यदि पाठक अहसास कर लेता है, तो उसका कारण यह है कि कवि निम्ह्नवर्गीय और निम्ह्नवर्णीय परिघटनाओं और परिस्थतियों से अपने को कनेक्ट करता है। देश के हालात दिनोंदिन जिस तरह बिगड़ते जा रहे हैं उसमें किसी भी तरह की कल्पना अस्वाभाविक नहीं है एवं आने वाले दिनों में वंचितों, महिलाओं और अल्पसंख्यकों के साथ किसी भी तरह की अनहोनी से इनकार नहीं किया जा सकता।

दिनेश कुशवाह की वे कविताएँ मुझे ज्यादा अपील करती हैं जिनको उन्होंने सबसे सताए और कमजोर लोगों को लक्ष्य करके लिखी हैं। ऐसे सताए हुए लोग दुनिया के किसी भी कोने के हो सकते हैं। मुझको ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी ऐसी कविताएँ ज्यादा चमकदार होती हैं। वे विमर्श की मांग करती हैं। ऐसी कविताएँ उनकी संवेदना, करुणा और सरोकार का पता देती हैं, साथ ही इससे उनकी उदात्तता और व्यापकता की भी खोज होती है। कवि कनाड़ा के दोनोवाल बेली के 1996 में 100 मीटर की दौड़ जीतने पर ऐसी कविता लिखते हैं जिससे पूरी दुनिया के अश्वेत, दलित, कमजोर और असहाय लोग प्रेरणा पा सकते हैं-

"अपने रंग को लेकर तुम्हें
इतने ताने क्यों सुनने पड़ते हैं
ऐसे मारक ताने जो तुम्हारी जान ले लेते हैं
जबकि तुम्हारे शरीर की बलवती मछलियाँ

समुद्र मथकर अमृत निकाल सकती हैं।

लगता है तुम्हारा खुला मुँह
अभी निगल लेगा सूरज को
हमारे आदिवासी हनुमान की तरह।

तो आखिर तुम सारे
विश्व विजयी खिलाड़ियों का मुँह
अपने प्रति हो रहे
अत्याचारों के खिलाफ
कब खुलेगा!"[3]

दिनेश कुशवाह ने इस कविता को दिवंगत दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि को समर्पित किया है। मुझे नहीं लगता कि ओमप्रकाश वाल्मीकि से ज्यादा उपयुक्त सुपात्र इसके लिए कोई और हो सकता है। इस कविता की सार्थकता इसमें है कि यह पूरी दुनिया के अश्वेतों और दलितों के मनोबल एवं आत्मविश्वास को बढाने का काम करती है। उन्हें उनकी ताकत का अहसास कराते हुए उनमें ऊर्जा का संचार करती है। कवि का पहला दायित्व और कर्तव्य यह बनता है कि वह समाज या व्यक्ति का इमोशनल ब्लैकमेल नहीं करे। वह अपने नागरिकों को उनके अतीत और वर्तमान की याद जरूर दिलाए; लेकिन इस शर्त पर कि उनसे निजात पाने को उनके भीतर ताकत के जो अजस्र स्रोत हैं वे हिलोरें मारने लगें। कवि अपने समाज और नागरिकों को यह अहसास कराए कि प्रकृति ने हरेक जीव और मनुष्य को विकट से विकट परिस्थितियों से पार पाने की क्षमता प्रदान की है, जिसको उन्हें खोजने की जरूरत है। दिनेश कुशवाह का कवि यह काम बखूबी करता है। वे पूरी दुनिया के सताए और कमजोर लोगों से आह्वान करते हैं कि जिनसे इस दुनिया की चमक, रौनक और खनक बरकरार है, यदि वे अपनी अपूर्व आंतरिक शक्ति और संख्याबल को पहचान लें, तो ऐसी कोई ताकत नहीं जो उनसे आँख भी मिला ले।

दिनेश कुशवाह की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे प्रतिरोध भी बड़ी शालीन और मर्यादित भाषा में दर्ज करते हैं जिससे उनकी रचनात्मक अभिव्यक्ति और उत्कर्ष देखने को मिलता है। हिंदी कविता का अध्ययन करने पर पता चलता है कि प्रतिरोध की अमूमन कविताएँ अपनी शालीनता और मर्यादा को भंग करते हुए आगे बढ़ती हैं, जिससे उनकी पाठकीयता भी प्रभावित होती है– "नई पीढ़ी के विद्वानों ने सामाजिक यथार्थ के नाम पर भाषागत आभिजात्य के विरोध में आंदोलन चलाया है। ज्ञातव्य है कि भाषा को सीधे वर्ग से जोड़कर देखना उचित नहीं है। दूसरी बात यह कि भाषा वर्गीय संस्कारों से प्रभावित होती है, लेकिन उच्च वर्गों के सारे संस्कार त्याज्य नहीं होते। सुरुचि और शालीनता यदि यथार्थ को छिपाने के लिए प्रयोग में लाई जाती है, तो वह त्याज्य है, लेकिन वह अभिव्यक्ति के उत्कर्ष के रूप में सामने आती है, तो वरेण्य है।"[4]

प्रतिकार, प्रतिरोध, प्रेरणा, प्रेम, करुणा, न्याय और मुक्ति दिनेश कुशवाह की कविताओं के बीज शब्द हैं। इन्हीं शब्दों से वे अपनी कविताओं का ताना-बाना बुनते हैं, जिनकी ध्वनि और प्रतिध्वनि उनके दोनों संग्रह की कविताओं में सुनाई देती हैं। वरिष्ठ और वरेण्य कथाकार-उपन्यासकार शिवमूर्ति लिखते हैं- "प्रेम एवं करुणा की जो पुकार दिनेश कुशवाह की कविता में मिलती है, उसके अनुकरण में बार-बार अनेक कवि-कंठ फूट पड़ते हैं। वे कबीर की तरह सच को सबसे बड़ा तप मानते हैं और मुक्तिबोध की तरह अभिव्यक्ति के खतरे उठाना जानते हैं।"

दिनेश कुशवाह को पढ़ते हुए यह बात नोटिस करने वाली है कि उनके दूसरे संग्रह की अधिकांश महत्वपूर्ण कविताएं प्रचलित अर्थों में कहूं तो दलित-बहुजन विमर्श की कविताएं हैं। इन कविताओं के मूल में सामाजिक न्याय की प्रेरणा है। ऐसा अकारण भी नहीं है क्योंकि कवि जिस समाज का प्रतिनिधित्व करता है उसे भी सामाजिक न्याय की दरकार है और नए दौर में वह भी विमर्श के दायरे में शामिल है। ऐसा कैसे हो सकता है कि दिनेश कुशवाह जैसा जागरूक, संवेदनशील और राजनीतिक कवि अन्य जनवादी-प्रगतिशील कवियों की तरह क्लासलेस सोसायटी बनाने की आड़ में जाति के प्रश्नों को छिपाता चला जाए। हालाँकि, दिनेश कुशवाह की कविताओं में भी जातियाँ उस तरह नहीं आतीं जिस तरह दलित कवियों की कविताओं में आती हैं। उनकी भी कविताओं की संरचना प्रगतिशील कवियों की ही तरह है। लेकिन उसमें वर्णित घटनाओं, स्थितियों और परिवेश का चित्रण कुछ इस तरह से होता है कि कोई भी उसको दलित-बहुजन से कनेक्ट या रीलेट कर सकता है। कवि दिनेश कुशवाह की विशिष्टता यहीं परिलक्षित होती है कि वह प्रगतिशीलता का निर्वाह करते हुए हिंदी कविता के सामाजिक लोकतंत्र के दायरे को विस्तृत करते जाते हैं-

"जाल में चिड़िया फंसाने वाले
या जल में मछली मारने वालों को
व्याध कहना
भुखमरों पर ज्यादती होगी
महाराज!

क्षमा करें आदिकवि!
आपसे अच्छ्छा कौन जानेगा
उन लोगों के बारे में
जो शिकार को
खेलना कहते हैं।"[5]

यहाँ यह खुलकर बताने की जरूरत नहीं है कि "जाल में चिड़िया फंसाने वाले या जल में मछली मारने वाले" किन जातियों और समाज के लोग होते हैं। दिनेश कुशवाह यहाँ इशारों में उनके पेशों के बारे में जानकारी देते हैं जिससे हम जान लेते हैं कि ये समाज के निम्नवर्णीय लोग हैं जिन्हें सामाजिक न्याय की दरकार है। दिनेश कुशवाह की कविताओं की हेडिंग भी बड़ी अर्थपूर्ण होती हैं। वे वर्तमान में चल रहे विमर्शों को एक मुक्कमल आकार प्रदान कर जाती हैं। 'मैंने रामानंद को नहीं देखा' प्रख्यात दलित आलोचक डॉ. धर्मवीर की उस स्थापना की सहसा याद दिला जाती है जिसमें उन्होंने रामानंद को कबीर का गुरु मानने से इनकार कर दिया है। डॉ. धर्मवीर का तर्क है जो कबीर ब्राह्मणों, वेद-पुराणों, कर्मकांडों आदि की जिंदगीभर चिंदियाँ उड़ाता रहा उसका कोई सनातनी और जात-पात में लिथड़ा ब्राह्मण कैसे गुरु हो सकता है? उसमें भी उस विद्रोही कबीर का जिसका रामानंद ने जुलाहा होने के कारण गुरु बनने से इनकार कर दिया था? डॉ. धर्मवीर कहते हैं कि कीड़ा-मकोड़ा या पशु-पक्षी कबीर का गुरु हो सकता है लेकिन कोई ब्राह्मण नहीं। दिनेश कुशवाह की 'मैंने रामानंद को नहीं देखा' जैसी हेडिंग एक तरफ यदि डॉ. धर्मवीर की स्थापना को बल प्रदान करती-सी लगती है, वहीं दूसरी तरफ रामानंद के महान गुरु होने से संबंधित समाज में जो किंवदंतियां प्रचलित हैं उसको कवि हिंदी कथाकार काशीनाथ सिंह पर परोक्ष रूप से आरोपित करते हैं। कवि का मानना है कि उन्होंने रामानंद को तो नहीं देखा लेकिन उनके जो गुण समाज में गाए जाते हैं, उन गुणों का साक्षात्कार कोई चाहे तो काशीनाथ सिंह में कर सकते हैं। यहाँ यह बताना जरूरी है कि संयोग से काशीनाथ सिंह कवि दिनेश कुशवाह के भी गुरु रहे हैं। मेरा मानना

है कि 'मैंने रामानंद को नहीं देखा' हिंदी की एक विलक्षण और क्लासिक कविता है क्योंकि इसमें एक गुणी गुरु होने की कसौटियाँ भी बताई गई हैं- "पहले गुरु, गुरु थे, प्रेम में सद्‌गुरु हो गए।"[6]

भारत में सबसे बड़ा अपराध वर्णव्यवस्था है। इस अपराध ने देश का सबसे बड़ा नुकसान किया है। महासागरों में भी उतने जल नहीं होंगे जितने आंसू वर्णव्यवस्था से पीड़ित लोगों ने बहाए हैं। अतिशूद्रों-शूद्रों और महिलाओं को इस व्यवस्था ने कैसे-कैसे तोड़ा है यह अवर्णनीय है। सभी बड़े कवियों-लेखकों ने इस पर लिखा और इसको खत्म करने की मांग की। लेकिन इसको खत्म करने की जितनी कोशिशें होती हैं यह उसी अनुपात में बढ़ती जाती है। दिनानुदिन यह नए-नए रूपों में आकार ग्रहण करके प्रकट होती है। अब तो यह अदृश्य होकर भी शिकार करती है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वर्णव्यवस्था ने अपने पुराने रूपों से छुटकारा पा लिया है। खौफनाक और हैरतअंगेज तो यह है कि नए के साथ-साथ इसके पुराने रूप भी बदस्तूर जारी हैं जो सारी आधुनिकता, कम्प्यूटर-मोबाइल-इंटरनेट युग, सभ्यता और संस्कृति पर सवाल खड़े कर रहे हैं। दूसरी ओर दलित-बहुजन समाज से आने वाले कवियों को जाति के प्रश्न इस तरह परेशान करते रहते हैं कि घुमा-फिराकर जाति उनके यहाँ चली आती है। इन कविताओं के जरिए कवि कई-कई सवालों का हल जानने की कोशिश करते हैं। दिनेश कुशवाह की इस चिंता और परेशानी को हम उनकी परोक्ष रूप से 'चुल्लू भर पानी का सनातन प्रश्न', 'आज भी खुला है, अपना घर फूंकने का विकल्प', 'उजाले में आजानुबाहु' और प्रत्यक्ष रूप से "कमाल है!! कहा कंवल भारती ने" एवं 'हरिजन देखि प्रीति अति बाढ़ी' जैसी कविताओं में महसूस कर सकते हैं-

"पर जब सुना किसी का नाम
आगे पीछे लगा है राम
जैसे राम सजीवन राम
या बाबू जगजीवन राम
राम नाम की माला फेंकी
मुंह से निकला छी! छी! राम!

हरिजन देखा, आंखें फूटीं
करुणा, दया, भलाई छूटी।"[7]

मेरा खयाल है कि जाति का सवाल बड़े सवालों में एक है और इसके तार अनेकानेक सवालों से जुड़े हुए हैं। समकालीन हिंदी कविता में दिनेश कुशवाह उन कुछेक कवियों में हैं जो मूल को पकड़ते हैं और उसके जरिए सभी सवालों की पड़ताल करते हैं। उनकी कविताओं की जद में वह सब कुछ आता है जिससे एक भारतीय का जीवन प्रभावित होता है। महिलाओं के सवाल और मकबूल फिदा हुसैन के बहाने उन्होंने हमारे जिस्म में दौड़ते नफरती खून का जिस तरह पोस्टमार्टम लिया है वह 'नया भारत' की अवधारणा को तार-तार करता है। यहाँ यह कहने की जरूरत है कि महिलाओं की प्रताड़ना और एक सोची-समझी रणनीति के तहत अल्पसंख्यक प्रतीकों पर लगातार हमले वही लोग कर रहे हैं जिन्हें आम्बेडकर की अध्यक्षता में बने संविधान नहीं सुहाता तथा वे उसकी जगह मनुस्मृति लागू करने की कवायद में जुटे हुए हैं। 'ऑनर किलिंग के समय में बालसखी', 'महिला सरपंच के निर्वसन घुमाए जाने पर' और 'हर औरत का एक मर्द है' जैसी कविताएँ यह बताने के लिए काफी हैं कि जिन अपराधों को सामंती, कबीलाई समाज में अंजाम दिया जाता था, वे आज भी बदस्तूर जारी हैं। महिलाओं को महाभारत काल से लेकर आजतक इसलिए दंडित किया जाता रहा है ताकि उनकी अस्मिता को दबाते हुए पुरुषों की यौन कुंठा को तृप्त किया जा सके। दिनेश कुशवाह की कविता 'ऑनर किलिंग के समय में बालसखी' प्रेम से शुरू होती है और ऑनर किलिंग की भयावह आशंका पर खत्म होती

है। मेरे कहने का मतलब है कि शूद्रों के साथ-साथ महिलाओं को दंडित करने के जो विधान मनुस्मृति ने 2500 साल पहले रचे थे, उसका पालन आज भी किया जाता है। दिनेश कुशवाह की एक अन्य कविता 'पूछति ग्रामवधू सबसे' में यह सवाल किया जाता है- "भूखा ही मनुआ सो जाए, नया जमाना आए-जाए, देह जली है, पेट जला है, अपना क्या कुछ भी बदला है।"[8] इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय संविधान की सक्रियता और सामाजिक जागरुकता के कारण दलितों और महिलाओं की स्थिति में थोड़ा-बहुत बदलाव हुआ है, लेकिन अब उस बदलाव को रोकने की भी येन-केन प्रकारेण साजिशें रची जाने लगी हैं।

दलितों और महिलाओं के साथ जिस वर्ग को आज सबसे ज्यादा टारगेट किया जा रहा है वह अल्पसंख्यक, विशेषकर मुसलमान है। मुसलमानों के खिलाफ माहौल में इतना जहर घोल दिया गया है कि उन पर संदेह करते हुए उनकी देशभक्ति पर लगातार सवालिया निशान लगाया जा रहा है। हालांकि मुसलमानों के खिलाफ नफरत पूर्ववर्ती शासनकाल में भी देखने को मिलती थी और उसी के परिणामस्वरूप मकबूल फिदा हुसैन जैसे महान और विश्वप्रसिद्ध कलाकार को भारत छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। लेकिन कल्पना कीजिए कि यदि आज हुसैन जीवित होते, तो इस मुसलमान विरोधी माहौल में उनकी क्‍या दशा होती! हुसैन का सरस्‍वती की न्‍यूड बनाने के कारण उनके अपने ही देश ने न सिर्फ अनादर किया बल्कि उन्हें इतना परेशान किया कि उन्होंने खुद अपने को देशनिकाला दे दिया। जबकि हमारा महान साहित्य और इतिहास न जाने ऐसे-ऐसे कितने न्यूडों से भरा पड़ा है। यहाँ कवि के सवाल देखने लायक हैं-

"जयदेव, विद्यापति और सूर की राधा के
चित्र मिटा दोगे तुम?
वृंदावन को जला दोगे
कि वहाँ एक बार कृष्ण के मन
में जगी लालसा गोपियों को निर्वसन देखने की
सरस्वती और ब्रह्मा की कथा का क्या करोगे?
और सारे पुराणों का?

तुम उनके खिलाफ क्यों नहीं बोलते
जो सरस्वती का निर्लज्ज व्यापार कर रहे हैं
दरअसल
वे निर्वसन कर रहे हैं सरस्वती को।"[8]

दिनेश कुशवाह हुसैन के बाबत और भी बहुत सारी बातें करते हैं जिनसे उनके बहुपठित होने और उनकी प्रज्ञा का दर्शन होता है। मेरा खयाल है कि जो देश किसी कलाकार का धर्म और जाति देखकर उसके साथ अपराध करता है वह कभी भी तरक्की नहीं कर सकता। मुस्लिम प्रतीकों, शासकों और कलाकारों के वजूद को मिटाने की आज जिस तरह से आंधी चला दी गई है, वह इसका संकेत है कि बुरे दिन आ चुके हैं। कवि की हुसैन पर लिखी कविताओं से अप्रत्याशित अनहोनियों और आशंकाओं की सूचनाएँ प्रकट होती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि दिनेश कुशवाह सत्ता का क्रिटिक रचते हैं और एक असली बुद्धिजीवी की भूमिका में सदैव उपस्थित होते हैं। उनकी कविताओं के गहरे अर्थ होते हैं, जिनका प्रसार असीम एवं अछोर है।

दिनेश कुशवाह समकालीन यथार्थ के कवि हैं। उस यथार्थ के जो नई सामग्री प्रदान करता है। वे हिंदी के समकालीन यथार्थवादी कवियों से इस अर्थ में भी भिन्न हैं जो मूल समस्याओं से ध्यान भटकाकर अवांतर

प्रसंगों या जिनका देश की विशाल आबादी की स्थितियों, परिवेश और दुनिया से कोई रिश्ता नहीं बनता। यदि कभी उनसे उनका रिश्ता बन भी गया तो वे या तो उनको उपहास के पात्र बना देंगे, या नहीं तो फिर उनका खलनायक या नव फासीवादी के रूप में चित्रण करेंगे। प्रमाण के लिए पिछले 30-40 वर्षों की हिंदी कविताओं पर अगर रिसर्च किया जाए तो अनेक स्वनामधन्य कवि सामाजिक न्याय के शत्रु बनते नजर आएंगे। दिनेश कुशवाह यथार्थ की नई सामग्री प्रस्तुत कर परंपरा और कला का विकास करते हैं- "एक ओर, यथार्थ हमेशा नई सामग्री प्रदान करता है और पुरानी सामग्री को दृष्टि से हटाता है। लेकिन वह उनके बहाव में पड़कर भी उन प्रवृत्तियों को सामने लाने में सफल हो जाता है जिनकी महत्ता पहले नहीं समझी गई थी। नए रूपों का विकास यथार्थ के इसी सक्रिय, अविरल परिवेक्षण से गहरे में जुड़ा है। इस अर्थ में कला विकासमान है और सभी कलाकृतियाँ, चाहे उनका संबंध विकास के किसी भी चरण से हो, अंततः सौंदर्यात्मक रूप में समान हैं।"[10]

तेजस्वी युवा आलोचक संतोष अर्श 'इतिहास में अभागे' पर विहंगम दृष्टि डालते हुए कहते हैं- "दिनेश का अन्य संग्रह 'इतिहास में अभागे' भी भूमंडलीकरण की परछाईं तले रचा गया है। यह शीर्षक फ्रेंज फेनॉन की पुस्तक 'दि रैचिड ऑफ द अर्थ' के शीर्षक का स्मरण कराता है। जिसकी प्रस्तावना सार्त्र ने लिखी है। 'धरती के अभागे' नाम से जिसका अनुवाद हुआ है और जिसमें अश्वेतों के प्रति हुए औपनिवेशिक अन्याय का हवाला है। फेनॉन लिखते हैं, 'हां, देसी कवि का पहला कर्तव्य यह स्पष्ट तौर पर न देखना है कि उसने अपनी कलाकृति के विषय के तौर पर किन लोगों को चुना है। वह मजबूती के साथ तब तक आगे नहीं बढ़ सकता जब तक उसे उनसे अपने अलगाव का अहसास नहीं होता। (धरती के अभागे, अनुवादक : अशोक कुमार, पृष्ठ-175)। इस संग्रह से हम साफ देख सकते हैं कि दिनेश इस अलगाव को महसूस कर भारतीय समाज के शोषितों को कविता का विषय तीव्रता से बनाते हैं। इसमें वे अश्वेतों के लिए भी कविता लिखते हैं और भारतीय हरिजनों, दलितों के लिए भी।"[11]

दिनेश कुशवाह की कविताओं की अनेकानेक विशेषताएँ हैं। नए यथार्थ की खोज के साथ-साथ काव्य-कला और भाषा का विलक्षण प्रयोग भी उनके यहाँ सहज ही देखने को मिलता है। जबकि नए यथार्थ के साथ काव्य-कला को भी साध लेना बड़ी बात मानी जाती है। शिवमूर्ति कहते हैं- "अद्‌भुत कथन शैली, देसी मिठास और शास्त्रीय परिमार्जन से भरी भाषा को जो मणिकांचन योग दिनेश कुशवाह की कविता में उपस्थित होता है, अन्यत्र दुर्लभ है। कल्पना, प्रतीकों और बिम्बों से सज्जित अपनी कविता में वे वैज्ञानिक-दार्शनिक तर्कों के साथ ऐसी सरसता न जाने कहां से लाते हैं। जबकि वैचारिक आधार और राजनीतिक दृष्टि ही उनकी कविता के पाथेय हैं।" दिनेश कुशवाह के ये सारे गुण उनको कवि-आचार्य के पद पर विराजमान करते हैं और उनकी कविताओं को दीर्घजीवी बनाते हैं।

**संदर्भ :**


1. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पृ. 10
2. वही, पृ. 11, 12
3. वही, पृ. 25, 26
4. नवल, नंदकिशोर, कविता : पहचान का संकट, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, पृ. 174
5. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पृ. 15

6. वही, पृ. 17
7. वही, पृ. 43
8. वही, पृ. 82
9. वही, पृ. 98
10. लुकाच, जार्ज, समकालीन यथार्थवाद (द मीनिंग ऑफ कंटेंपोरेरी रियलिज्म ), अनु., चौहान, सिंह, कर्ण, स्वराज प्रकाशन, 4697/3, 21-।, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-110002, पृ. 92
11. मिश्र, विनोद, कृति बहुमत, विनोद कुमार मिश्र द्वारा, 2ए, सड़क-13, सेक्टर-10, भिलाई-490006, दुर्ग (छ. ग.), फरवरी-25, पृ. 13

❑❑❑

शोधालेख

# स्वातंत्र्योत्तर भारत का मुस्लिम समाज और शानी की कहानियाँ

पीयूष राज*

**संक्षिप्ति :**

शानी ने 'नई कहानी' के दौर से ही कहानियाँ लिखनी शुरू की थीं। उनका पहला कहानी संग्रह 'बबूल की छाँव' सन् 1958 में छपा और अंतिम कहानी संग्रह 'जहाँपनाह जंगल' सन् 1984 में प्रकाशित हुआ। शानी जिस कालखंड में कहानियाँ लिख रहे थे, उस दौर में 'नई कहानी' तथा बाद के अन्य कहानी-आंदोलनों के माध्यम कई कहानीकार सक्रिय थे। इस भीड़ में बतौर कहानीकार अपनी पहचान बनाए रखना कोई आसान काम नहीं था। शानी की कहानियों अपने भावबोध एवं शिल्प की विशिष्टता की वजह से इस भीड़ में अपनी पहचान बनाने में कामयाब रहीं। 'नई कहानी' की विशिष्टताओं को समटते हुए भी शानी ने अपने रचनाकर्म से इसके फलक को भाव और शिल्प को विस्तृत किया है।

**बीज शब्द :** नई कहानी, शानी, हिंदी कहानी, भारतीय मुसलमान, मुस्लिम विमर्श, सांप्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता।

शानी का पूरा नाम गुलशेर खान शानी था। उनका गुलशेर खान होना यानी मुसलमान उनकी कहानियों के अनुभव संसार का प्रमुख हिस्सा है। आज जब भी हाशिए के रचना एवं रचनाकार की बात होती है तो स्त्री विमर्श, दलित विमर्श और आदिवासी विमर्श ही मुख्यत: हमारे बहस का केंद्र होता है। स्त्री, दलित एवं आदिवासी होने के दर्द की चर्चा के बीच हम मुसलमान होने के भी दर्द को सायास या अनायास नजरअंदाज कर देते हैं। जबकि इस देश में मुसलमानों की आबादी लगभग दलितों के बराबर है और आदिवासियों से काफी अधिक है। यहाँ शानी की कहानियों के बहाने किसी मुस्लिम विमर्श का आग्रह नहीं किया जा रहा है। लेकिन यह सवाल है कि स्त्री, दलित और आदिवासी जहाँ अपनी पहचान को लेकर मुखर हैं, वहीं मुसलमानों के भीतर इस मुखरता का लगभग अभाव है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में मुसलमानों में अपनी पहचान को लेकर मुखरता क्यों नहीं है या क्यों नहीं हो सकता है? इस सवाल का शानी की कहानियों में उत्तर देखा जा सकता है। आजादी के साथ-साथ भारत का विभाजन भी हुआ और मुसलमानों के लिए एक अलग वतन पाकिस्तान बना। पाकिस्तान बनने के बावजूद मुस्लिम आबादी के एक बड़े तबके ने भारत में ही रहना पसंद किया। विभाजन की त्रासदी का जिक्र

* *सहायक प्राध्यापक, मॉडल कॉलेज दुमका, सिदो-कान्हु मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका*
*मोबाइल नंबर 9868030533; ईमेल : piyushraj2007@gmail.com*

हिन्दी कथा-साहित्य में खूब हुआ है। लेकिन आजादी के बाद जो मुसलमान भारत रह गए उनकी पीड़ा को आवाज शानी की कहानियों ने दिया है। स्त्री, दलित और आदिवासी की तरह मुस्लिम विमर्श क्यों नहीं हो सकता इसका जवाब भी शानी की कहानियाँ देती हैं। शानी की अधिकांश कहानियाँ न केवल विभाजन के बाद भारतीय मुस्लिम समाज के अंतर्विरोधों, तकलीफों, आंतरिक यातना और विसंगतियों की कहानियाँ बल्कि वे इस ओर भी इशारा करती हैं कि इस यातना से छुटकारा पाने का कोई समाधान भी नहीं है। यानी भारतीय मुसलमान को मुसलमान होने की तकलीफ अभी और झेलना है। भारत और पाकिस्तान में से भारत को चुनने के बावजूद अभी भी उनके भारतीय होने पर उनका मुसलमान होना अधिक भारी है। यानी बहुसंख्यक समुदाय की नजर में उसकी भारतीय संदिग्ध है। इस संदिग्धता की कीमत आज भी मुस्लिम समाज झेल रहा है। शानी मुस्लिम समाज की इसी अनुभव की पीड़ा को अपनी कहानियों में अभिव्यक्त करते हैं। यह पीड़ा शानी के व्यक्तिगत अनुभव का भी अंग है।

अपनी कहानियों के बारे में शानी लिखते हैं- "यह महज एक संयोग नहीं है कि कुछ कहानियों को छोड़कर मेरी अधिकांश कहानियाँ विभाजन के बाद के भारतीय मुस्लिम समाज के भय, तकलीफों, भीतरी अंतर्विरोधों, यंत्रणाओं और असंगतियों की कहानियाँ हैं...मैं आज भी सृजनरत हूँ और इसी दिशा में बेहतर रचना करना पसंद करूँगा...मैं बहुत गहरे में मुतमईन हूँ कि ईमानदार सृजन के लिए एक लेखक को अपने कथानक अपने आसपास से और खुद अपने वर्ग से उठाना चाहिए..."[1]

रचना संसार अनुभव संसार से जुदा नहीं होता है। यह अनुभव भोगे हुए और देखे हुए दोनों तरह के यथार्थ से अर्जित होता है। किसी भी रचना की सफलता इस बात में निहित होती है कि वह पाठक के सामने उस भोगे या देखे हुए यथार्थ की मार्मिकता को कितना संप्रेषित कर पाता है।

हम चाहे कितना भी गंगा-जमुनी तहजीब की बात कर लें फिर भी स्वातंत्र्योतर भारत के मुस्लिम जीवन का अनुभव बहुसंख्यक आबादी के अनुभव का अंग नहीं है। वतन के रूप में मुसलमानों के लिए पाकिस्तान बन जाने के बाद भारत में रह गए मुसलमानों की सामूहिक मानसिकता में एक अजीब तरह का अंतर्विरोध पैदा हुआ। बहुसंख्यक हिन्दू आबादी के लिए भारतीय मुसलमानों की भारत के प्रति निष्ठा हमेशा के लिए संदेह के घेरे में आ गई। चाहे वो खेल का मैदान हो या युद्ध का मैदान, जब भी भारत और पाकिस्तान के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा हुई वे बहुसंख्यक हिन्दू आबादी के लिए अविश्वनीय बने रहे। "देशद्रोही" होने का अदृश्य तमगा उनके ऊपर हमेशा लटका रहा। उन्हें हर कदम पर यह साबित करने की जरूरत बनी रही कि वे भी देशभक्त हैं। हमेशा संदेह की नजर के देखे जाने की इस सामूहिक मानसिक यातना को बहुसंख्यक हिन्दू आबादी ने महसूस नहीं किया है। इसमें भी कोई शक नहीं है कि समूह के रूप में जो मानसिक यंत्रणा मुस्लिम समाज झेल रहा है, वह यंत्रणा हिन्दी के एक बड़े पाठक वर्ग के अनुभव संसार का भी हिस्सा नहीं रहा है। इस अनुभव को विस्तृत ढंग से समझने के लिए सांप्रदायिकता की अवधारणा को स्पष्ट करना जरूरी है।

## सांप्रदायिकता की अवधारणा और नई कहानी

आधुनिकता ने जहाँ स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व जैसे विचारों को जन्म दिया, वहीं वह सांप्रदायिकता जैसे खतरनाक विचार का भी जन्मदाता है। भारत में सांप्रदायिकता का जन्म ब्रिटिश शासन के दौरान 19वीं सदी के मध्य में हुआ। जिसके कारण अंततः भारत का विभाजन हुआ। धर्म के नाम पर होने वाले इस विभाजन की पृष्ठभूमि बहुत पहले रची जा चुकी थी, जिसकी परिणति हिंसा और विस्थापन के रूप में आम भारतीय जनमानस ने झेली। सांप्रदायिकता की परिभाषा पर विचार करते हुए प्रोफेसर बिपिन चंद्रा ने लिखा है- "सांप्रदायिकता का मतलब है इस बात पर विश्वास करना कि किसी खास धर्म को मानने वाले लोगों के सामाजिक, आर्थिक और

राजनीतिक हित भी समान होते हैं।"[2]

सांप्रदायिक विचारधारा से प्रभावित व्यक्ति यह मानता है कि सभी हिंदुओं के या सभी मुसलमानों या किसी भी अन्य धर्म को मानने वाले सभी लोगों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हित एक जैसे होते हैं। बिपिन चंद्रा इसे विस्तारित करते हुए बताते हैं कि यह मान्यता तब और खतरनाक हो जाती है जब लोग यह मानने लगते हैं कि हिंदू धर्म को मानने वाले लोगों के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हित; इस्लाम धर्म को मानने वाले लोगों के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हित से भिन्न ही नहीं बल्कि एक-दूसरे के विरोधी भी होते हैं। जब समाज में यह मान्यता प्रचलित हो जाती है, तभी सांप्रदायिक संघर्ष, तनाव या दंगों की स्थिति उत्पन्न होने की संभावना सबसे अधिक होती है। इस स्थिति में एक धर्म विशेष के लोग दूसरे धर्म विशेष के लोगों को अपना शत्रु समझने लगते हैं। इस स्थिति का सीधा संबंध आधुनिक राजनीति से है यानी सांप्रदायिकता आधुनिक राजनीति की देन है। इसे स्पष्ट करते हुए बिपिन चंद्रा लिखते हैं- "*भारत में राजनीति का सांप्रदायिक आधार एक नई बात थी; यद्यपि धार्मिक विभेद और सामाजिक समूह के सिद्धांत के रूप में धर्म का प्रयोग पहले से विद्यमान था। सांप्रदायिक राजनीति से यहाँ तात्पर्य उस धारणा से है जिसके अनुसार धर्म को जन भागीदारी नहीं राजनीतिक प्रक्रिया का आधार माना जाता है। किंतु मध्ययुगीन राजनीति सांप्रदायिक राजनीति नहीं थी। यद्यपि तब और प्राचीन काल में भी धार्मिक दमन और अत्याचार होते थे। सांप्रदायिकता एक आधुनिक परिघटना थी जिसका आरंभ ब्रिटिश उपनिवेशी प्रभाव और भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों, संस्तरों तथा समूहों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। सांप्रदायिकता एक आधुनिक विचारधारा है जिसने धार्मिक मामलों और रोटी-बेटी व्यवहार में हिंदुओं और मुसलमानों की पारंपरिक चेतना का लाभ उठाया। इस चेतना के अनुसार हिंदू और मुसलमान अलग-अलग समूह थे। सांप्रदायिकता ने विभेद और अलग धार्मिक पहचान को लोकतांत्रिक प्रभुसत्ता की आधुनिक राजनीति का आधार बनाने का प्रयास किया।*"[3]

इस सांप्रदायिक राजनीति के कारण भारत विभाजन हुआ। भारत विभाजन एक ऐसी ऐतिहासिक परिघटना थी, जिसका असर आज भारतीय उपमहाद्वीप में देखा जा सकता है। सांप्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता के द्वन्द्व से जूझते भारतीय उपमहाद्वीप के लोगों की मानसिकता हिन्दी, उर्दू, बांग्ला, पंजाबी, सिंधी, पंजाबी सहित कई भाषाओं में हुई है। इस त्रासदी ने गंगा-जमुनी तहजीब को कितना नुकसान पहुँचाया है, यह इन भाषाओं के साहित्य में दर्ज है। सआदत हसन मंटो, राही मासूम रजा, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, कृश्नचंदर, मोहन राकेश, यशपाल एवं अमृता प्रीतम जैसे साहित्यकारों की विभाजन संबंधी रचनाएँ कालजयी हैं।

नई कहानी की कई कहानियों; जैसे- 'मलबे का मालिक' (मोहन राकेश), 'सिक्का बदल गया' (कृष्णा सोबती), 'अमृतसर आ गया' (भीष्म साहनी) इत्यादि में विभाजन की विभीषिका और उससे उत्पन्न सांप्रदायिक मानसिकता का यथार्थ चित्र है। स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में सांप्रदायिकता किस तरह आम जनजीवन में पैठ गई थी, इसका सटीक वर्णन मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' और भीष्म साहनी की कहानी 'अमृतसर आ गया है' में है। मोहन राकेश ने 'मलबे का मालिक' कहानी में सीधे-सीधे सांप्रदायिक राजनीति के बारे में कुछ नहीं कहा है, लेकिन उन्होंने उन सारी स्थितियों को पूरी संवेदना के साथ अभिव्यक्त कर दिया, जो सांप्रदायिक राजनीति के लिए जमीन तैयार करती हैं। मुहल्ले के लोगों को घोषित रूप से बदमाश रक्खे से उतना डर नहीं लगता है, जितना बूढ़े गनी से मुसलमान होने से। भीष्म साहनी की कहानी 'अमृतसर आ गया है' में अमृतसर के आने पर डिब्बे मौजूद लोगों का पठानों के प्रति एकाएक व्यवहार बदल जाना भी इसी मानसिकता का परिचायक है। बहुसंख्यक धार्मिक समुदाय के लोगों की यह भावना स्वातंत्र्योत्तर भारत की उस विडंबना को दर्शाता है, जहाँ मुसलमान होना ही अपराधी होना हो गया है। यह पीड़ा विभाजन की पीड़ा से भी गहरी

है। सुरेंद्र चौधरी इस बारे में लिखते हैं– "*आजादी देश के विभाजन के साथ आई थी, इसीलिए हिंदी-उर्दू कथा-साहित्य में देश-विभाजन की पीड़ा अधिक रहती है, काल के परिवर्तन का उल्लास कम। 'टोबाटेक सिंह' से लेकर बदीउज्जमा की कहानी 'परिचय' तक में यही उल्लास देशगत विभाजन का अनुभव मूर्त हुआ।*"[4]

**शानी की कहानियों में अभिव्यक्त मुस्लिम जीवन**

शानी की कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर भारत के मुसलमानों की इसी पीड़ा का सूक्ष्म अंकन हुआ है, जहाँ वे हर समय वे संदेह के घेरे में हैं। एक सफल रचनाकार वही होता है जो पाठकों को अपने रचना के माध्यम से उन परिस्थितियों में ले जाने में समर्थ सिद्ध होता है, जो अब तक उस पाठक वर्ग के सामान्य अनुभव का अंग नहीं था। शानी की मुस्लिम जीवन की कहानियाँ जैसे 'बिरादरी', 'युद्ध', 'दोजखी' आदि इस दृष्टिकोण पर खरी उतरने वाली कहानियाँ हैं।

शानी इन कहानियों में मुस्लिम समाज के इस मानसिक यंत्रणा को उसके समस्त आयामों और जटिलताओं के साथ प्रस्तुत करते हैं। विभाजन के बाद भारत में रह गए मुसलमानों के लिए पाकिस्तान के साथ संघर्ष की स्थिति यंत्रणादायक इसीलिए भी हुआ करती थी क्योंकि उनका कोई न कोई रिश्तेदार पाकिस्तान चला गया था। युद्ध जैसी स्थिति में एक तरफ उनके ऊपर 'देशद्रोही' के तमगा का खतरा हर वक्त मंडराता रहता था, वहीं दूसरी तरफ उन्हें पाकिस्तान में रह रहे अपने रिश्तेदारों की सलामती की चिंता भी सताती थी। मुस्लिम समाज के इस अंतर्विरोध को शानी ने अपनी कहानी 'युद्ध' में कुछ यूँ चित्रित किया है– "*दरअसल, आम मुसलमान, झाड़ियों में दुबके खरगोश की तरह अजीब सकते के आलम में डरा हुआ और चौकस हो गया था। लोग दरवाजे-खिड़कियाँ बंद करके धीमी आवाज में रेडियो पाकिस्तान की न्यूज सुनते और जब भी दो या चार आपस में मिलते, खरगोशों के अंदाज में बातें करते।*"[5]

शानी अक्सर किसी भावना या यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए अपनी कहानियों में जानवरों का प्रतीक के रूप में प्रयोग करते हैं। यहाँ मुस्लिम समाज के भय को पूरी संवेदना से अभिव्यक्त करने के लिए खरगोश का प्रयोग किया गया है। खरगोश एक ऐसा जानवर है जिसे हमेशा किसी अन्य जानवर के हाथों शिकार हो जाने का खतरा बना रहता है। उसे अपने आपको बचाए रखने के लिए हमेशा चौकस रहना पड़ता है और हल्की सी आहट पाते ही वो भाग जाता है। उसके पास अपने शिकारी पर पलटवार करने की ताकत भी नहीं होती। उसके बचाव का एकमात्र रास्ता उसका हमेशा चौकन्ना रहना है, खतरे की आहट को सुनने के लिए वो हरदम कान खड़ा किए रहता है। शानी खरगोश के द्वारा यहाँ मुस्लिम समाज की निरीहता को अभिव्यक्त कर रहे हैं। खरगोश मुस्लिम समाज की बेबसी और डर का प्रतीक है।

ऐसा नहीं है कि इस मानसिक यातना के खिलाफ मुस्लिम समाज में कोई प्रतिरोध नहीं हैं। 'युद्ध' में दो मुस्लिम पात्र हैं एक है कुरैशी और दूसरा है रिजवी। कुरैशी हर वक्त अपने आपको देशभक्त साबित करने के लिए अतिउत्साह में दिखता है। जबकि रिजवी का कहना है– "मैं क्या बेईमान हूँ, जो ईमानदारी का सबूत पेश करता फिरूँ...?"[6] इस कहानी में रिजवी और कुरैशी विरोधी चरित्र के रूप में दिखते हुए भी एक-दूसरे के पूरक हैं। रिजवी मुस्लिम समाज की इच्छाओं-अपेक्षाओं का प्रतिनिधि है तो कुरैशी वास्तविकता एवं मजबूरी का। भारत में एक आम मुसलमान की बहुसंख्यक आबादी से यह उम्मीद करता है कि उसे शक की निगाहों से न देखा जाए। लेकिन सच्चाई इसके विपरीत है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में मुसलमान रिजवी बनकर नहीं बल्कि कुरैशी बनकर ही रह सकता है। मुस्लिम समाज की मानसिक यातना के साथ-साथ 'युद्ध' उस विडंबना की भी कहानी है, जहाँ ईमानदारी से अधिक ईमानदारी के ढोंग का महत्व है। शानी इस तथ्य को समझ चुके थे कि आजाद भारत में अगर मुसलमान यह चाहता है कि उसकी ईमानदारी पर शक न किया जाए तो उसके पास देशभक्ति

का झुनझुना होना चाहिए। अपने 'आत्मकथ्य' में इस बारे में वे लिखते हैं- "*...अगर आप भारतीय मुसलमान है और चाहते हैं कि आपकी बुनियादी ईमानदारी पर शक न किया जाए तो यह झुनझुना बहुत जरूरी है।*"[7]

कथानक की दृष्टि से 'जनाजा' कहानी 'युद्ध' का ही विस्तार है। 'युद्ध' के पात्र रिजवी की 'जनाजा' में मौत हो जाती है। रिजवी की मौत स्वातंत्र्योत्तर भारत में एक आम मुसलमान की इच्छाओं-अपेक्षाओं की मौत का प्रतीक है। इन दोनों कहानियों को एक साथ मिलाकर पढ़े जाने की जरूरत है। 'युद्ध' में जहाँ भय, आशंका और दहशत है, वहीं 'जनाजा' इस आशंका के सच्चाई में परिणत हो जाने की त्रासदी को बयाँ करती है। 'जनाजा' इंसान से पहले मुसलमान होने की त्रासदी की कहानी है। यह कहानी उस त्रासदी को भी व्यंजित करती है, जहाँ एक ईमानदार और परिस्थितियों के आगे घुटने न टेकने वाले आदमी का अंत सुनिश्चित है। इस संदर्भ में रिजवी और उसके दोस्त शंकरदत्त के बीच हुए बातचीत का यह अंश बहुत ही मारक है-

"*हाँ, यह भी पता है कि मुसलमान मुझे काफिर समझते हैं, और हिन्दू यह समझते हैं कि मैं...लेकिन क्या आदमी सिर्फ स्याह या सफेद ही होता है? ऐसा नहीं होता कि दोनों के बीच कई-कई रंग घुले हों?*"

कई पल रुककर शंकरदत्त ने कहा था, "*क्या यह जरूरी है कि जो रंग आपका भीतर से हो वह बाहर भी दिखाया जाए?*"

"*दत्त जी, अगर यह जरूरी नहीं तो हिपोक्रेसी और ईमानदारी में क्या फर्क हुआ?*"[8]

यहाँ साफ है कि रिजवी इंसान की पहचान को जाति-धर्म आदि के खाँचे से हटकर देखे जाने का हिमायती है। उसे किसी तरह की हिपोक्रेसी पसंद नहीं है। पर यह हमारे सामाजिक ढाँचे की विडंबना है कि यहाँ रिजवी जैसे लोगों के लिए कोई जगह नहीं है। यह 'जनाजा' रिजवी का नहीं है बल्कि ईमानदारी का है, इंसानियत की पहचान का है।

'दोजखी' कहानी का विषय भी मुस्लिम समाज के भीतर व्याप्त डर है। 'जनाजा' की तरह 'दोजखी' कहानी की शुरुआत भी कथावाचक के मित्र की मौत से होती है। इन दोनों कहानियों में शानी ने कथानक में फ्लैशबैक का प्रयोग किया है। शानी अतीत के सहारे वर्तमान की तस्वीर खींचते हैं। शानी ऐसी कहानियों के द्वारा यह दर्शाते हैं कि समय के बीतने के बावजूद मुस्लिम समाज की परिस्थितियों में कोई बदलाव नहीं आया है। भले ही सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से कोई मुसलमान प्रगति कर गया हो लेकिन उसके आसपास का भय पहले की ही तरह अब भी उसके साथ लगा है। इस कहानी का पात्र हसीन कथावाचक की प्रगतिशीलता का मजाक उड़ाते हुए कहता है कि- "*तुम न हीयों में हो और न शीयों में। न यहाँ न वहाँ। अल्लाह तुम पर रहम करे।*"[9]

वास्तव में यह उस स्थिति को बयाँ करता है कि पाकिस्तान बन जाने के बाद भारत में रह गए मुस्लिम न घर के रहे और न घाट के। भारत में रहने के बाद उनके सामने जीवनयापन की जो कठिनाइयाँ पैदा हुई, उसकी कहानी 'दोजखी' में है। अवसर मिलने पर भारतीय मुसलमान कमाने-खाने के लिए बाहर जाना चाहता है। हालाँकि यह भी सत्य है कि वो बाहर बसने के उद्देश्य से नहीं जा रहा है। उसे भी इस देश में रहना है लेकिन परिस्थितियाँ दिन-ब-दिन ऐसी होती जा रही हैं कि वो जीवनयापन के लिए दूसरे देशों का मुँह देखने के लिए मजबूर है। मुसलमान की यह जो अजीब त्रासद स्थिति है वो हसीन के चरित्र से इस कहानी में उद्घाटित होती है। एकतरफ वह बढ़ते दंगे-फसादों पर कहता है- "*अब यह मुल्क रहने लायक नहीं रहा!*"

और यह भी कहता है- "*भागनेवाले पाकिस्तान हैं और वे कभी लौटकर नहीं आएँगे।*"

इसके बाद विदेश जाकर काम करने के सवाल पर हसीन बौखलाकर कहता है- "*मैं अपने और अपने बच्चों*

*के मुस्तकबिल के बारे में कुछ न सोचूँ? यहीं पड़ा सड़ता रहूँ? अपने आसपास लुच्चों, लफंगों, बदकार और बदमाशों को पनपता हुआ देखता रहूँ? रोज कुढ़ूँ...रोज लहू जलाऊँ?"*[10]

स्वातंत्र्योत्तर भारत में सिर्फ मुस्लिम होने की आंतरिक यातना और विसंगति का इससे अधिक सूक्ष्म चित्रण शायद ही कहीं मिले। हसीन की छटपटाहट एक भारतीय मुसलमान की छटपटाहट है जो भारत में अपना भविष्य नहीं देख पा रहा है लेकिन वो वापस यहीं लौटना चाह रहा है। दरअसल वह न तो विदेश में अपने भविष्य को लेकर निश्चिंत है और न ही देश में। भारतीय मुसलमान एक ऐसे जाल में फंसा है, जहाँ से वह निकलने की कोशिश में उस जाल के तारों में और उलझता ही जा रहा है।

शानी ने मुस्लिम समाज के अंतर्विरोधों, मानसिक यातना, विसंगति और छटपटाहट के साथ-साथ मध्यवर्गीय, निम्न मध्यवर्गीय एवं आधुनिक जीवन की विडंबना और विसंगति को भी अपनी कहानियों का विषय बनाया है। शानी की कहानियों के बारे में विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं- "*शानी की कहानियाँ सिर्फ सच-सच कहनेवाली और सच के अलावा और कुछ न कहनेवाली कहानियाँ हैं। आजादी के बाद के हिन्दुस्तान के सच को भोगता हुआ निम्न और मध्यमवर्गीय आदमी शानी की कहानियों का नायक है- यह कहना आम बयान होगा। कहानियाँ जो कुछ संप्रेषित करती हैं, उन्हें इकट्ठा किया जाए तो वह सच का रूप होगा। शानी की कहानियाँ जरूरत से ज्यादा बोलती ही नहीं इसीलिए वे पर्याप्त व्यंजित करती हैं।"*[11]

शानी ने मुस्लिम मध्यवर्गीय जीवन एवं हिन्दू मध्यवर्गीय जीवन, दोनों पर कहानियाँ लिखीं। शानी की मुस्लिम मध्यवर्गीय परिवेश की जिन कहानियों में मुस्लिम पहचान की वजह से उपजे डर का चित्रण नहीं हुआ है, वे कहानियाँ हिन्दू मध्यवर्गीय जीवन की कहानियों से अलग नहीं हैं। 'जली हुई रस्सी', 'नंगे', 'बीच के लोग', 'चहल्लुम', 'जगह दो रहमत के फरिश्ते आएँगे', 'डाली फूलती नहीं' आदि जैसी कहानियाँ मध्यवर्गीय और निम्न मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवेश का वर्णन है तो 'एक नाव के यात्री', 'जहाँपनाह जंगल' जैसी कहानियों में हिन्दू परिवेश। इन दोनों तरह की कहानियों में अगर कुछ धार्मिक-सांस्कृतिक प्रतीकों को छोड़ दिया तो इनमें मध्यवर्गीय जीवन की जो यातना है वह एक समान है। शानी की इस विशिष्टता के बारे में मृणाल पांडे 'हिंदी साहित्य का टोबा टेक सिंह : शानी' में लिखा है- "*अपनी तमाम कड़वाहट, भाषायी खुरदुरेपन और आक्रोश के बावजूद शानी की कहानियों का सबसे बड़ा गुण है उनकी ईमानदार निष्पक्षता। अपनी गरिमा और छोटेपन, अपने हर्ष और विषाद में उनके पात्र हिंदू और मुसलमान उतने नहीं हैं, जितने कि खघलिस मनुष्य हैं।"*[12]

## शानी की कहानियाँ और मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ

मध्यवर्गीय जीवन की सबसे विडंबना है उसके भविष्य की अनिश्चितता। इस वजह से भय, असुरक्षा एवं आशंका आदि मध्यवर्गीय जीवन के पर्याय हो जाते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी डर या भय या दहशत को शानी की कहानियों का मूल भाव मानते हुए लिखते हैं- "*शानी के डर, भय, दहशत किसी विचारधारा या जीवन-दर्शन का आरोपण नहीं, वह हमारे दौर के मध्यवर्गीय, अकसर निम्न मध्यवर्गीय जीवन-स्थितियों का अनिवार्य अंग है। शानी की कहानियों का डर, भय सार्त्र या कामू का नहीं, मुक्तिबोध की असुरक्षा भावना, अकर्मक संवेदना की कचोट की श्रेणी का है। शानी अस्तित्ववादी नहीं, सामाजिक-बोध से उद्वेलित एवं विचलित ईमानदार किंतु स्थितियों से टक्कर न ले पानेवाली मानसिकता के रचनाकार हैं।"*[13]

मध्यवर्गीय जीवन में जो समझौतापरस्ती है, उसे शानी पूरे यथार्थ के साथ अभिव्यक्त करते हैं। शानी मध्यवर्गीय जीवन की असंगतियों को सघन संकेतों या प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। उनकी कहानियों के शीर्षक गहरे अर्थ लिए हुए हैं। उदाहरण के लिए 'जली हुई रस्सी' सबकुछ समाप्त हो जाने के बाद भी मध्यवर्ग के भीतर बने रहने वाले अहं का प्रतीक है।

क्षण, अँधेरा, भय, रंग जैसे शब्द बार-बार शानी की कहानियों में आते हैं। ये सारे शब्द मध्यवर्गीय जीवन में आने वाले उतार-चढ़ाव को व्यंजित करते हैं। शानी तनाव के परिवेश को बहुत ही कुशलता और सघनता से बुनते हैं। उदाहरण के लिए उनकी कहानियों के कुछ वाक्यांशों को द्रष्टव्य हैं-

- सफिया बोली, "प्राविडेंट फंड के पैसे मिलेंगे, तो घी ला दोगे? बहुत दिनों से अपने यहाँ पुलाव नहीं बना।"
- वाहिद के भीतर जैसे किसी ने हाथ डालकर खंगाल दिया हो। अपने को किसी तरह संयत कर पहले वहा धीरे-से मुस्कराया, फिर जरा जोर से बनाई हुई हँसी हँसता हुआ बोला, "बस?" (जली हुई रस्सी)
- लग रहा था जैसे मेरे शरीर पर भरे-पूरे कपड़े नहीं, सिर्फ एक उठंग-सी कमीज पड़ी है। फूफी और मसूद की दुल्हन के सामने अपने को जैसे-तैसे ढँकने के लिए कमीज के पल्ले खींचता हूँ, पर पेट ढँकता है तो पीठ खुल जाती है... (नंगे)
- खाने की मेज पर भी जब वही तनाव गिद्ध के डैनो की मँडराता रहा तो कीर्ति ने केवल बात करने के लिए सप्रयास बात शुरू की। (एक नाव के यात्री)
- मन की चिकनी और बेहद बिछलन-भरी दीवार पर जो साँप की तरह चढ़ और गिर रहा था, वह भय था कि रज्जन कहीं अपने पत्र की बात भूल तो नहीं गया! (एक नाव के यात्री)
- वे उन लोगों में से हैं जो हर बार गलती करते हैं, शायद इसीलिए अपनी हर गलती के बोझ से घबराकर दूसरों का कंधा तलाश किया करते हैं। (बीच के लोग)
- बाहर अँधेरा और हैबतनाक खामोशी थी, जैसे समूचे शहर को किसी ने ठंडे और अँधेरे गार में उतार दिया हो। रह-रह लड़ाकू हवाई जहाजों की आवाज सहसा आकाश के किसी कोने में जनमती, फिर वह शैतानी जबान की तरह लपलपाती हुई मानो प्रत्येक घर की छत-मुँडेरों को चाटती कहीं दूर निकल जाती। फिर वही हैबतनाक खामोश और बेपनाह धड़कता हुआ अँधेरा, जिसमें देर तक यूँ लगता रहता था, जैसे वह आवाज गई नहीं, अपनी छत पर रूकी हुई है। (युद्ध)

शानी यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए फैंटसी की सीमा का अतिक्रमण नहीं करते हैं लेकिन मध्यवर्गीय जीवन की असंगति को अभिव्यक्त करने के लिए अतिमानवीय रूपकों और प्रतीकों का सहारा लेते हैं। शानी की कहानियों की उपर्युक्त पंक्तियों में भी इसे देखा जा सकता है। मध्यवर्गीय जीवन की ऊब को अभिव्यक्त करने का यह प्रभावशाली तरीका है। मधुरेश शानी की इस विशेषता के बारे में लिखते हैं- "*समूची 'नई कहानी' में प्रतीकों का जितना संयत और विवेकपूर्ण उपयोग शानी में मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है।*"[14]

शानी किसी विचारधारा से प्रेरित होकर कहानियाँ नहीं लिखते हैं लेकिन उनका सामाजिक बोध इतना तीव्र है कि उनकी कहानियाँ हमारे समाज की कुरूपता को उसके समस्त आयामों के साथ उद्भासित करती हैं। पूँजी की संस्कृति एवं आधुनिकता ने हमारे जीवन-मूल्यों में जो क्षरण किया है, शानी ने उसे भी अपनी कई कहानियों का विषय बनाया है। 'पत्थरों का तालाब', 'इमारत गिराने वाले', 'जहाँपनाह जंगल' और 'परस्त्रीगमन' इस दृष्टिकोण से उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। 'पत्थरों का तालाब' राजनीति और नौकरशाही के पतन की कहानी है, वहीं 'इमारत गिराने वाले' नवधनाढ्य वर्ग की अपसंस्कृति की कहानी है। इस वर्ग के लिए धन ही नैतिकता है। उसे जो पसंद आ जाए उसे वह हर कीमत पर पा लेना चाहता है। वह प्रलोभन के जरिए निम्न मध्यवर्ग को भी इसका हिस्सा बना लेता है। इस कहानी के भवन बनाने वाले कारोबारी वाचक को एक दफ्तर के बाबू अनिल की पत्नी चंद्रा पसंद आ जाती है। यहाँ प्रेम का भाव नहीं है। चंद्रा उसके लिए सिर्फ एक नारी देह है,

जिसका वह उपभोग करना चाहता है। शुरू-शुरू में जब कारोबारी अनिल की अनुपस्थिति में चंद्रा से मिलने की कोशिश करता है तो चंद्रा उसे झटक देती है। तब कारोबारी चंद्रा और उसके पति अनिल को अपनी दुनिया से परिचित करवाता है। अंतत: ऐसी स्थिति आ जाती है कि अनिल खुद उस कारोबारी को चंद्रा से आलिंगनबद्ध होने को कहता है। कहानी का अंत एक अद्‌भुत तनाव के साथ होता है, जहाँ कारोबारी एक अपराधबोध से ग्रस्त नजर आता है। दरअसल यह पूरी कहानी मूल्यों के टकराहट की कहानी है। आधुनिकता की चमक-दमक कैसे हमारे मूल्य-बोध को बदल देती, यह उसकी कहानी है।

'जहाँपनाह जंगल' संवेदनहीन होते तथा अपने ही खोल में सिमटती शहरी जीवन की कहानी है। 'परस्त्रीगमन' स्त्री-पुरुष संबंधों को व्याख्यायित करने एक नया नजरिया है।

शानी की कहानियों में अनुभव की जो व्यापकता है, वही व्यापकता उनके कथा-शिल्प में भी है। शानी अपनी कहानियों में या तो प्रथम पुरुष कथावाचक के रूप में स्वयं एक पात्र के तौर पर आते हैं और सर्वज्ञ कथावाचक के रूप में भी। कहानी का पात्र होकर भी वे पाठक की संवेदना का अपहरण नहीं करते बल्कि उसे और धार देते हैं। शानी की भाषा का रेंज भी विस्तृत है। शानी न तो उर्दू से हिन्दी में आए और न ही उन्होंने उर्दू में लिखा है। शानी ने मुस्लिम परिवेश एवं संस्कृति को जीवंत करने के लिए अरबी-फारसी शब्दों के साथ-साथ उर्दू मुहावरों का भी प्रयोग किया है। ऐसा करते हुए उनकी भाषा दुरुह नहीं होती है लेकिन मुस्लिम संस्कृति से जुड़े कुछ शब्दों के अर्थ को समझने में इनसे अनभिज्ञ पाठकों को थोड़ी मुश्किल जरूर होती है। पर यही शानी की खासियत है कि वे ऐसा करके हिन्दी साहित्य के भाषा के चरित्र को सांप्रदायिक होने से बचाते हैं और पाठकों की संवेदना तथा बोध को विस्तृत करते हैं। शानी की कथा-भाषा संवेदना की गहराई को अभिव्यक्त करने सक्षम है। सघनता के बावजूद शानी की भाषा बनावटी नहीं है।

**निष्कर्ष**

चाहे वह संवेदना हो या भाषा शानी हिन्दी के पाठकों के अनुभव संसार का विस्तार करते हैं। उनकी कहानियाँ में बोध एवं भावना की संश्लिष्टता के बावजूद उलझाव या दुरुहता नहीं है। वे अपनी कहानियों में किसी भी चरित्र, घटना, भाव या विषय को उसके सामाजिक संदर्भ में रखते हैं। शानी की कहानियाँ बोध-प्रधान होने बावजूद किसी विचारधारा से प्रेरित होकर नहीं बल्कि सामाजिक जीवन के जो अंतर्विरोध हैं, उसके बीच से ही विकसित होती हैं। ये अंतर्विरोध खासकर स्वातंत्र्योत्तर भारत में मुस्लिम समाज के अंतर्विरोध आज भी मौजूद हैं। यह एक विडंबनापूर्ण परिस्थिति ही है कि शानी की कहानियाँ आज भी प्रासंगिक हैं।

**संदर्भ :**

1. शानी, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति : 2009, पृ. 14
2. चंद्र, बिपिन, आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण :1996, पृ. 01
3. वही, पृ. 06
4. चौधरी, सुरेंद्र, हिंदी कहानी : रचना और परिस्थिति, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण : 2009, पृ. 125
5. शानी, सब एक जगह - 1, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1982, पृ. 221
6. वही, पृ. 222
7. वही, पृ. 08

8. वही, पृ. 207
9. शानी, शानीः दस प्रतिनिधि कहानियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1997, पृ. 15
10. वही, पृ. 18
11. त्रिपाठी, विश्वनाथ, कुछ कहानियाँ : कुछ विचार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करणः 2015, पृ. 36
12. पांडे, मृणाल (हिंदी साहित्य का टोबा टेक सिंह : शानी), शानीः दस प्रतिनिधि कहानियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1997, पृ. 07
13. त्रिपाठी, विश्वनाथ, कुछ कहानियाँ : कुछ विचार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करणः 2015, पृ. 41
14. मधुरेश, हिन्दी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण : 2001, पृ.101

❑❑❑

# 'बसंती' : नारी चेतना का बदलता स्वरूप

○ गीता कुमारी*

**संक्षिप्ति :**

'बसंती' भीष्म साहनी का उपन्यास है। इसमें 'बसंती' नामक नारी पात्र के जीवन संघर्ष और उसके चरित्र की विकास यात्रा को दर्शाया गया है। बसंती का चारित्रिक विकास विषम परिस्थितियों, यातनाओं और शोषण के आघात-प्रतिघात के बीच होता है। उपन्यास में बसंती के मानसिक संघर्ष को भी कायदे से चित्रित किया गया है। विपरीत परिस्थितियों के बीच संघर्ष करती हुई बसंती अपनी आकांक्षाओं, भावनाओं और सकरात्मक जीवन मूल्यों के बीच अपनी जिजीविषा को जिस तरह का अंजाम देती है, उससे नारी चेतना का एक भिन्न आयाम सामने आता है। पाठाधारित विश्लेषण के द्वारा नारी चेतना के उस भिन्न आयाम को समझना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है। बसंती का चरित्र पारंपरिकता को एक चुनौती है, वह नारी व्यक्तित्व का नया उदाहरण लेकर आती है, जिसमें नारी चेतना के बदलते स्वरूप का दर्शन होता है।

**बीज शब्द :** नारी चेतना, पारंपरिक, अनुगूँज, उत्सर्ग, स्वाभिमान, प्रणय, उन्मादकता, स्पर्श।

बदलते परिवेश में नारी की स्थिति में परिवर्तन आया है। उनमें स्वत्व की चेतना का विकास हुआ तथा स्त्री-पुरुष संबंधों में एक खुलापन आया है। नारी में उपजी हीनता बोध की ग्रंथि खुलने लगी है। 'बसंती' भीष्म साहनी का एक सशक्त उपन्यास है। बसंती उपन्यास की मुख्य स्त्री पात्र है। उसका निश्छल व्यक्तित्व पूरे उपन्यास में आईने की तरह बार-बार झलकता है। यह उपन्यास महानगरीय परिवेश में मची उथल-पुथल को दर्शाता है। इस उथल-पुथल भरे माहौल में पलती बढ़ती बसंती वक्त के थपेड़ों को झेलती हुई मानसिक और दैहिक शोषण का शिकार होती है। लेखक ने टूटती झुग्गी-झोपड़ियों के साथ एक स्त्री के बिखरते जीवन को भी बयां किया है। लेकिन बसंती अपने उद्दाम जिजीविषा के बल पर अपने जीवन की निरंतरता को अंत तक बरकरार रखती है। मधुरेश जी ने इस संदर्भ में कहा है, "बसंती उजड़ने और बसने का प्रतीक है अपनी बस्ती की तरह।"[1] दिल्ली जैसे महानगर में रोजगार की तलाश में दर-दर भटकते दर्जी नाई, धोबी, मोची, कारीगर, राजमिस्त्री तथा अन्य मजदूरों की बस्ती ही बसंती का बसेरा है। उसकी आकांक्षाएँ उसके सपने बड़े थे। निम्न वर्ग में जन्म लेने वाली बसंती को महानगरीय चकाचौंध भरी जीवन-शैली आकर्षित करती है। उच्च वर्ग के संस्कार और रहन-सहन के प्रति उसका विशेष झुकाव था। महादेवी वर्मा की कविता में नारी की स्वाभाविक चेतना की मुखर अभिव्यक्ति हुई है –

* *असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, सत्येन्द्र नारायण सिन्हा महाविद्यालय, टिकारी, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया*

"तोड़ दो इस क्षितिज को मैं भी देख लूँ,
उस ओर क्या है।"

उच्च जीवन-शैली के प्रति उसकी जिजीविषा तथा बढ़ती महत्वाकांक्षा ने उसके सम्पूर्ण जीवन को होम कर दिया। हिन्दी कथा साहित्य में संबंधों के प्रति नारी के दृष्टिकोण में आए बदलाव के पीछे बदलते परिवेश, नया भावबोध, नयी चेतना, आधुनिकता बोध, परंपरागत संस्थाओं के प्रति बदलती धारणा सहायक हैं। बसंती आजाद ख्यालों वाली बिंदास लड़की है। वह जबरन किसी बंधन में बंधना नहीं चाहती है। जब उसका पिता चौधरी साठ वर्षीय दर्जी बुलाकीराम से पैसे लेकर शादी की औपचारिक रस्म पूरी करना चाहता है तब चूहे मारने वाली दवा खाकर बसंती अपने पिता के फैसले को चुनौती देती है और समाज को यह संदेश देती है कि महिलाएँ महज खरीद-फरोख्त की वस्तु नहीं है। उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। धर्मवीर भारती ने बहुत पहले यह स्पष्ट कर दिया था कि, "मानव की सदियों पुरानी मान्यताएँ बहुत तेजी के साथ ढहती चली जा रही है। उनकी चेतना के आगे नये-नये क्षितिज हर साल खुलते जा रहे हैं।"[2] परिवार, प्रेम-संबंध, वैवाहिक जीवन प्रत्येक स्तर पर नारी ठगी गई है। भीष्म जी ने बसंती के माध्यम से पुरुष मानसिकता को उजागर किया है तथा समाज में स्त्रियों के स्वतंत्र अस्तित्व पर प्रश्न-चिह्न लगाया है। क्या स्त्रियाँ स्वतंत्र हैं? एक पिता महज बारह सौ रुपये में अपनी बेटी का सौदा करता है और अधेड़ उम्र के बुलाकीराम को ब्याह का आश्वासन देते हुए कहता है, "बारह सौ होंगे। कहेगा तो आज ही उसके हाथ पीले कर दूँगा। चार सौ पेशगी दे दे पूरे एक हजार हो जायेंगे। दौ सौ लुगाई घर आ जाने पर दे देना।"[3] नारी के स्वतंत्र अस्तित्व को लेकर हर युग में विद्वानों ने अपनी राय कायम की है। तुलसीदास जी ने ढोल, गँवार, शुद्र, पशु, नारी सकल ताड़ना के अधिकारी कहकर नारी की स्थिति से अवगत करवाया तो वहीं मैथिलीशरण गुप्त ने अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आँखों में पानी कहकर समाज में नारी की स्थिति को बेपर्द किया है। प्रसाद ने नारी को श्रद्धा का पात्र बताया है तो शेक्सपीयर ने दुर्बलता अर्थात् नारी कहकर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को ही बौना कर दिया।

लेखक ने निम्नवर्गीय समाज का समूचा परिवेश व अपने भीतर टूटते-जुड़ते व्यक्तियों और उनके बीच बनते संबंधों के ताने-बाने को बड़ी बेबाकी से उभारा है। महानगरीय परिवेश में मजदूरों का जीवन बहुत विसंगतिपूर्ण था। गैरकानूनी रूप से सरकारी जमीन पर मजदूरों की बस्ती बसी थी। बस्ती के उजड़ जाने से विस्थापित मजदूर दर-दर भटकने लगे। इससे न सिर्फ उनका जीवन बल्कि रोजगार भी प्रभावित हुआ। इस विस्थापन से बसंती के जीवन में एक नया मोड़ आया। वह भटकती हुई श्यामा बीबी के घर जा पहुँची। ईश्वर से डरने वाली तथा भाग्य में विश्वास रखने वाली श्यामा बीबी बसंती को अपने घर में पनाह देती है। बसंती के प्रति श्यामा बीबी का रवैया उदार एवं सहानुभूतिपूर्ण है। दरअसल उच्चवर्गीय श्यामा बीबी का वैवाहिक जीवन कष्टदायक रहा। श्यामा बीबी के मन में गुरु महाराज के प्रति अपार श्रद्धा भाव था। अत: गुरु महाराज द्वारा बताये गए मार्ग मानव सेवा द्वारा ही श्यामा को अपने वैवाहिक जीवन के दु:खों से मुक्ति मिल सकती थी। "सेवा में तेरी मुक्ति है बीबी। किसी एक मनुख की सेवा कर। तेरा कष्ट दूर हो जाएगा। ... तुम्हें ढूँढ़ना नहीं होगा। वह अपने-आप तेरे सामने आ जाएगा।"[4] बसंती पढ़ी-लिखी नहीं थी। वह कई घरों में चौका-बर्तन का काम किया करती थी और इसी दौरान उसकी मुलाकात दीनू से होती है। स्वभावत: स्त्री और पुरुष के बीच एक आकर्षण होता है। बसंती भी दीनू के आकर्षण से अछूती न रही। बसंती उम्र के जिस दहलीज पर खड़ी थी वहाँ युवा मन स्वच्छंद आकाश में उड़ने को बेचैन रहता है। उसे सही-गलत की समझ नहीं होती। बसंती परिवार और समाज को ठेंगा दिखाकर दीनू के साथ भाग जाती है। अत: भीष्म जी ने पूरे सामाजिक परिवेश का ताना-बाना बुनते हुए बसंती के उत्थान और पतन की कथा को बड़े शिद्दत से बयां किया है। बसंती आर्थिक रूप से कमजोर है। लेकिन जीवन के

प्रति उसका नजरिया उदार है। कठिन-से-कठिन परिस्थिति भी उसके आत्मविश्वास एवं स्वच्छंद प्रवृत्ति को डिगा नहीं सकी। सूरज पालीवाल इस संदर्भ में लिखते हैं कि, "बसंती के माध्यम से लेखक ने एक ऐसी स्त्री की जीवन कथा से रू-ब-रू कराया है जो गरीब होते हुए भी अपने ढंग से जीवन जीना चाहती है। विपरीत परिस्थितियों से डरने की बजाय उनसे लड़ने की सीख लेती है।"[5] पुरुष प्रधान समाज में नारी अधिकांशत: यौन नैतिकता का शिकार होती है। बसंती भावी जीवन की अनंत रंगीन कल्पनाएँ संजोए दीनू का हाथ थामे चल देती है। बसंती खुले विचारों वाली लड़की है। लेकिन उसका यह कदम उसके जीवन को सामाजिक उपेक्षा और काँटों से भर देता है। वह दीनू के साथ साईकिल पर बैठकर अपने पिता के सामने से निकलने का साहस रखती है। दीनू के विरोध करने पर भी बसंती नहीं मानती है। वह कहती है, "किधर जा रहा है। अभी इधर और घूमेंगे। इधर से चल। ..... पागल हो गई है क्या? तेरे बाप ने देख लिया तो? कुछ नहीं होगा। इधर से ही चल।"[6]

स्त्री सदियों से एक अवलंब के सहारे आगे बढ़ी है। बसंती के माध्यम से समाज के मूल्यों, सत्यों, संबंधों के अनेक संगत-असंगत पहलू खुलते जा रहे हैं। दीनू का साथ पाकर बसंती गर्व से भर उठती है। वह दीनू को अपना पति मानती है। दीनू के साथ विवाह का स्वाँग रचाती है। ईश्वर को साक्षी मानकर अपनी माँग में रंग भरती है तथा जीवन भर साथ रहने की कसमें खाती है। नव दाम्पत्य जीवन की रमणीय कल्पनाओं से भरा नारी हृदय दीनू को अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। किन्तु दीनू का उद्देश्य महज बसंती को भोगना है। एक आलोचक के शब्दों में, "नारी सेक्स और सामाजिक ढाँचे में विद्रोह करने और अपने अस्तित्व की स्वतंत्र स्थिति प्रमाणित करने के बावजूद समर्पित की मुद्रा से नहीं उबर पायी है..... सारे आधुनिक आयोजन और पूर-पूरी बौद्धिक खुराक के होते हुए भी वह आत्म परायण भारतीय नारी की परंपरा को अपने रक्त में ढोए जा रही है।"[7] दरअसल लेखक ने इस उपन्यास में समाज और पुरुष से प्रताड़ित नारी की व्यथा कथा को उद्घाटित किया है। बसंती कभी पुरुष सामंती प्रवृत्ति का शिकार बन दीनू के आगोश में खेलती है तो कभी साठ साल के बूढ़े दर्जी बुलाकीराम की कोठरी में सिसकियाँ भरती है। लेखक ने एक स्त्री के दैहिक एवं मानसिक व्यथा को बहुत गहराई से उभारा है। 'तुझे लाया किसलिए हूँ?' दीनू का यह कथन पुरुष सामंती प्रवृत्ति को दर्शाता है। स्त्री चाहे किसी भी वर्ग, किसी भी जाति की हो सदियों से शोषित रही है। भीष्म जी ने बसंती के माध्यम से पितृसत्तात्मक समाज के कुरूप चेहरे को बेनकाब किया है। चाहे वह चौधरी हो, अधेड़ उम्र का साठ वर्षीय बुलाकीराम हो, बसंती का जीजा हो या दीनू सभी ने अपने-अपने तरह से बसंती का शोषण किया है। यहाँ एक प्रश्न जेहन में कौंधता है कि क्या बसंती महज खरीद-फरोख्त एवं सिर्फ इस्तेमाल की कोई वस्तु है या हांड़-मांस की इंसान? जिसके भीतर संवेदनाएँ हैं, एक नई ऊर्जा के साथ अपने जीवन को जीने की ललक है। इस संदर्भ में डॉ. जालिंदर इंगले का कहना है, "स्त्री चाहे उच्च वर्ण की हो अथवा निम्न वर्ण की मौका मिलते ही उनका शोषण हो रहा है ... इतना ही नहीं समस्त नारी जाति का प्रस्थापित पुरुष जाति से यौन शोषण होने की घटनाएँ कुछ कम नहीं है।"[8] दीनू विवाहित है। यह भेद खुलते ही बसंती शिथिल पड़ गई। उसके सपनों का घरौंदा चूर-चूर हो गया। उसके सारे अरमान धूमिल पड़ गये लेकिन दूसरे ही क्षण उसमें स्फूर्ति का संचार होता है। जैसे ही रूक्मी के ग्रामीण परिवेश से होने की बात उसे पता चलती है बसंती को अपने शहरी होने पर गर्व का अनुभव होता है। अत: उसने हालात से समझौता करना ही बेहतर समझा तथा उधेड़-बुन में फँसी बसंती स्वयं को सांत्वना देती हुई कहती है, "हरामी ने बताया ही नहीं कि उसके घर में बीबी है और अनायास ही दो गर्म-गर्म आँसू बसंती के गालों पर लुढ़क गए। बीबी है तो क्या? मैं इसके पीछे मारी-मारी तो नहीं फिरूँगी।"[9]

दीनू स्वार्थी प्रवृत्ति का व्यक्ति है। दीनू की कामलोलुप दृष्टि सदैव बसंती के देह को भोगने के लिए आतुर

रहता है। हॉस्टल से निकाले जाने पर वह बसंती के साथ बरडू के खोखे में शरण लेता है। लेकिन अपने जीवन को सम्पूर्ण अर्थों में जीने की ललक रखने वाली बसंती उस वक्त टूट जाती है जब उसे पता चलता है कि दीनू अपने मित्र (बरडू) के हाथों उसे बेचकर चला गया है। बसंती गर्भवती है। दीनू इससे अवगत था। फिर भी वह 300 रुपये में बरडू से बसंती का सौदा करता है। बरडू भी उसे भोगना चाहता है। स्त्री की विडम्बनापूर्ण स्थिति है जहाँ क्रेता और विक्रेता दोनों पुरुष हैं। गर्भवती बसंती दर-दर की ठोकरें खाती है। बरडू भी साये की तरह इसका पीछा करता है। इस संदर्भ में सूरज पालीवाल कहते हैं, "बसंती के लिए हर आदमी एक जैसा है। वह बुलाकीराम और बरडू के हाथ बिकी है। लेकिन दीनू ने उसका उपयोग किया है। दूसरी ओर उसका जीजा भी उसकी कमजोरी का लाभ उठाना चाहता है। पुरुष जाति से मानों बसंती का मोहभंग होता है। बसंती ने पुरुषों के कई किस्से-कहानियाँ सुनी थी। लेकिन किसी एक पुरुष के साथ बंधकर रहने से इस प्रकार की परेशानियों से बचा जा सकता था। किन्तु वह पुरुष ही उसे बेचकर भाग जाए ऐसा उसने नहीं सोचा था।"[10] बसंती का विश्वास बालू की भीति की तरह भर-भराकर गिर गया। बसंती बरडू की गिरफ्त से भागकर श्यामा बीबी के घर में शरण लेती है। लेकिन बसंती की तलाश में भटकता चौधरी उसे वापस घर ले जाता है और बुलाकी से गर्भवती बसंती का सौदा तय करता है। "रुपये पाँच सौ तेरी तरफ निकलते हैं। बुलाकीराम वह रकम दे दे और अपनी चीज ले जा। .... तीन सौ पिछले और दो सौ पेट के बच्चे के। तुम्हें बसी-बसाई गिरस्ती मिल रही है। इसके लिए क्या दो सौ ज्यादा है?"[11] बुलाकीराम को सारी उम्र नारी की चाहत रही और इसी कारण वह गर्भवती बसंती को सहर्ष स्वीकार कर लेता है। बुलाकी बसंती के गर्भ में पल रहे बच्चे के पिता से अवगत था। बसंती में प्रेम और समर्पण का भाव है। पुरुष की तरह स्त्री का हृदय उच्छृंखल नहीं होता है। बुलाकी से ब्याहे जाने के बाद भी वह दीनू को भूल नहीं पायी। अतः एक दिन अचानक दीनू से मुलाकात होते ही बसंती अपने भावावेश में बह जाती है और एक बार फिर से वह दीनू के साथ भाग जाती है।

बसंती की चुनौतियाँ अभी खत्म नहीं हुई। रूक्मी के रूप में एक नई चुनौती बाँहें पसारे बसंती का इंतजार कर रही थी। बसंती दीनू और उसकी पत्नी के साथ मिलकर अपना परिवार बनाना चाहती थी। रूक्मी को शहरी तौर-तरीके सीखाना चाहती थी। "तू उसे यहाँ ले आ। हम सब मिलकर रहेंगे। मैं सब काम कर लूँगी। उसे सब कुछ सीखा दूँगी। तू उसे यहाँ ले आ।"[12] बसंती जिस सुखद जीवन की कल्पना कर रही थी उसमें पुरुष मानसिकता का सही आकलन उसने नहीं किया था। बसंती परिस्थिति के अनुकूल स्वयं को ढालना जानती है। यह उसके चरित्र को विशिष्ट बनाता है। एक छोटी-सी कोठरी में बसंती और रूक्मी अपनी अलग गृहस्थी बसाती है। दीनू दो पत्नियों का स्वामी है। वह एक ही कमरे में दोनों के साथ बारी-बारी से सहवास करता है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध लेखिका सिमोन द बोउआर का कथन है, "स्त्री की स्थिति अधीनता की है। स्त्री सदियों से ठगी गयी है और यदि उसने कुछ स्वतंत्रता हासिल की है तो बस उतनी ही जितनी पुरुष ने अपनी सुविधा के लिए उसे देनी चाही। यह त्रासदी उस आधे भाग की है जिसे आधी आबादी कहा जाता है।"[13] दीनू रूक्मी को पत्नी का दर्जा देता है। लेकिन बसंती उसकी आवश्यकता की पूर्ति का साधन मात्र है। दीनू रूक्मी के उकसाने पर उसे मारता-पीटता है, प्रताड़ित करता है। दीनू काम-धंधा छोड़कर निठल्ला बैठा रहता है। सारे घर की जिम्मेदारी अकेले बसंती के कंधों पर आ जाती है। बसंती को स्वयं की कमाई पर नाज है। दीनू-रूक्मी उसकी कमाई पर आश्रित हैं। बसंती आश्रयदाता की भूमिका में है। अतः वक्त के थपेड़ों से परिपक्व होकर बसंती में संघर्षशील नारी अस्मिता का विकास होता है। इस संदर्भ में डॉ. श्यामा कश्यप का कहना है कि, "बसंती जिसे अपने हाथ की कमाई पर नाज है और स्वयं किसी पर आश्रित नहीं रही। अब वह विभिन्न घरों में चौका-बर्तन करके स्वयं दूसरों को पालने वाली औरत है। मानों वह सारे सामंती पूंजीवादी मूल्यों और संस्कारों

पर बेरहमी और साहस के साथ प्रहार करती है।"[14]

बसंती में भारतीय नारी के सभी गुण विद्यमान है। उसमें प्रेम, समर्पण, त्याग, ममता, कर्मठता, सहनशीलता का भाव प्रबल है। रूक्मी के बेटे के जन्म के बाद बसंती का मन शंकाओं से घिरा रहता है। उसके जेहन में एक अजीब सी बेचैनी रहती है। स्त्री मन कोमल होता है। रूक्मी के बेटे की खराब तबीयत देख बसंती के मन की सारी घृणा, ईर्ष्या एवं कड़वाहट धूमिल पड़ जाती है। वह दौड़कर बच्चे को डॉक्टर के पास ले जाती है और उसका उचित उपचार करवाती है। अपनी सौत के बेटे पर वह अपना ममत्व न्यौछावर करती है। उसके मन में स्निग्धता का संचार होता है। बसंती समय के थपेड़ों से झुकने व टूटने वाली स्त्री नहीं थी। वह स्वावलंबी स्त्री थी। विपरीत परिस्थितियों में भी वह नई राह ढूँढ़ लेती है। बसंती दीनू और रूक्मी के साथ मिलकर रोजगार करने की योजना बनाती है। दीनू के विरोध करने के बावजूद भी वह खाली पड़ी जमींन पर तंदूर लगाती है। "हम सब मिलकर तंदूर पर काम करेंगे। ..... इधर पास में जमींन का टुकड़ा खाली पड़ा है ना वहीं पर हम अपना तंदूर लगायेंगे। रोटियाँ सेंककर भी देंगे और बेचेंगे भी।"[15] बसंती के जीवन में चुनौतियाँ फिर से दस्तक देने लगी। बसंती और रूक्मी के बीच तनाव, संशय, ईर्ष्या और अविश्वास का वातावरण बनने लगा। दीनू मार-पीटकर दिनभर की कमाई बसंती से छीन लेता है। अंततः वह समय आ गया जब दीनू और रूक्मी वापस अपने गाँव जाने के लिए तैयार बैठे थे। अचानक आए इस संकट के लिए बसंती तैयार न थी। नारी संघर्ष के संदर्भ में डॉ. ज्योति किरण का कहना है, "इस समाज में अपनी समझ और काबिलियत जाहिर करने वाली स्त्री कुलछनी..... मर्यादाहीन, आत्मविश्वास के साथ लड़ने वाली स्त्री गैर समझौतावादी बन जाती है।"[16] हैरान और परेशान बसंती हालात से समझौता करते हुए दोनों को विदा कर आयी।

एक बार फिर से महानगरीय जीवन में उथल-पुथल मच जाता है। पुलिस मजदूरों की झुग्गी-झोपड़ी तथा उनके दुकानों को तोड़ रहे थे। सारे इलाके में भगदड़ मची हुई थी। बसंती का तंदूर भी टूट चुका था। जीवन के प्रति जिजीविषा बसंती के व्यक्तित्व के मजबूत पहलू को उजागर करता है। बसंती द्वारा 'तो क्या बीबी जी' कहना मानों वह हालात को चुनौती दे रही हो। इस संदर्भ में श्याम कश्यप का कहना है, "मर्द-औरत के रिश्तों, परिवार व सामुदायिक जीवन के शोषण तथा तमाम दमनकारी व्यक्तियों को जिस प्रकार बसंती मजबूती से चुनौती देती है हिन्दुस्तान में सर्वथा नई नारी की उभरती हुई तस्वीर है।"[17]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'बसंती' भीष्म साहनी का सशक्त उपन्यास है। बसंती इस उपन्यास की केन्द्रीय पात्र है। चौदह वर्षीय बसंती की आकांक्षाएँ असीमित है। शहरी परिवेश तथा फिल्में देखना उसे पसंद है। पिता द्वारा साठ वर्षीय बुलाकीराम से ब्याह तय किये जाने पर बसंती चूहे मारने की दवा खाकर इसका विरोध करती है। दीनू के साथ भागकर वह परंपरागत नैतिक मूल्यों को चुनौती देती है। बसंती दीनू के प्रति तन-मन से समर्पित है। वह मानसिक एवं शारीरिक शोषण का शिकार होती है। दीनू के प्रति बसंती का प्रेम और उसे पाने की जद्दोजहद अंत तक बनी रहती है। इसी उम्मीद पर वह बुलाकीराम का हाथ थामती है और मौका मिलते ही एक बार फिर वह अपने बेटे के साथ दीनू का साथ पाकर उत्साहित हो उठती है। दीनू और रूक्मी की नजरों में उसकी हैसियत गौण है। स्वावलंबन से भरी बसंती आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है। अपनी शर्तों पर जीवन जीने की इच्छा उसके जीवन को काँटों से भर देता है। अंततः अपनी उद्दाम जिजीविषा के बल पर बसंती अपने जीवन की निरंतरता को बनाये रखती है। पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था में बसंती जैसा ऊर्जावान चरित्र समाज में नारी अस्मिता को एक नई पहचान देता है।

**संदर्भ :**

1. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 199

2. अलका प्रकाश, नारी चेतना के आयाम, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 72
3. भीष्म साहनी, बसंती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 16
4. वही, पृ. 34
5. सूरज पालीवाल, सं. नामवर सिंह, आलोचना त्रैमासिक अंक, 17-18, वर्ष 2004, पृ. 136
6. भीष्म साहनी, बसंती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 52
7. अलका प्रकाश, नारी चेतना के आयाम, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 99
8. डॉ. जालिंदर इंगले, समकालीन हिन्दी उपन्यास वर्ग एवं वर्ण संघर्ष, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, 2014, पृ. 217-18
9. भीष्म साहनी, बसंती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 88
10. सूरज पालीवाल, सं. नामवर सिंह, आलोचना त्रैमासिक, अंक 17-18, वर्ष 2004, पृ. 136
11. भीष्म साहनी, बसंती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 118
12. वही, पृ. 87
13. आजकल, मार्च 2013, पृ. 24
14. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर, भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 150
15. भीष्म साहनी, बसंती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 175
16. पंचशील, शोध-समीक्षा, पृ. 61
17. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर, भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 150


❑❑❑

शोधालेख

# सामासिक संस्कृति निर्माण में बहुभाषिकता की भूमिका

❍ शशि कुशवाहा[✡]

**संक्षिप्ति :**

संस्कृति एवं भाषा अटूट रूप से एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। किसी भी संस्कृति के लोगों का दूसरे के साथ बात करना परिचित होना अपने बातों को रखना आदि भाषा से प्रभावित होता है तथा बातचीत के तौर-तरीके को भी प्रभावित करने में संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। लहजा अनुभव की समझ और एक ही भाषा के व्यक्तियों के बीच में अपनापन यह सभी संस्कृति का प्रतिबिंब और दस्तावेज है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005), हैलिडे (1994), कुमार (2000), स्टीफन (1998) ने इस बिन्दु पर बल दिया है कि बच्चों की भाषा को शामिल करके ही उन्हे पढ़ने-लिखने, सीखने के बारे में विचार करने तथा समझ विकसित कर पठन क्षमताओं को विकसित किया जा सकता है। उनकी भाषा द्वारा विद्यार्थियों में कई सम्भावनाओं को विकसित किया जाता है; जैसे- भाषा कुशलता, बोधगम्यता, ग्रहणशीलता, संवाद समझ, सृजनात्मकता आदि। इन सम्भावनाओं के मूल में भाषा स्थित होती है। ये ऐसी संभावनाएँ है, जिससे विद्यार्थियों की सम्पूर्ण विकास (सृजनात्मक कलात्मक सांस्कृतिक एवं अकादमिक) के साथ-साथ शिक्षा व्यवस्था भी जुड़ी है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) में स्कूली बच्चों में भाषा कला और संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए बहुभाषिकता को प्रोत्साहित करने के साथ उत्कृष्ट स्थानीय कलाकारों, लेखकों, हस्तकला, खेल एवं पारंपरिक भारतीय ज्ञान को जोड़ने की बात की गई है। अंकिता (2005), सिन्हा (2006) के अध्ययनों से विद्यार्थियों में विविध भाषा बोलने वाले भाषाओं की पहचान की। जॉनसन(2015), पाणिग्रही (2017) अध्ययनों से पता चलता है कि देश में विविध धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं भाषाई विविधता से परिपूर्ण है। अत: उपरोक्त अध्ययनों के आधार पर बहुभाषिकता एवं संस्कृति की भूमिका के संदर्भ में जानकारी प्राप्त करना महत्वपूर्ण हो जाता है। इसी संदर्भ को ध्यान में रखते हुए इस लेख में सामासिक संस्कृति और बहुभाषिकता की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है।

**बीज शब्द :** सामासिक, संस्कृति, बहुभाषिकता

हर जाति धर्म की अपनी संस्कृति होती है। परस्पर मिलजुल कर रहने से विभिन्न संस्कृतियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। इस तरह से एक मिश्रित संस्कृति का विकास होता है जिसे सामासिक संस्कृति कहा

---

✡ *शोधार्थी, आई.सी.एस.एस.आर. पोस्ट-डॉक्टोरल फेलो, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।*

जाता है। भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सामासिकता है। सदियों से हमने अनेक जातियों के आक्रमणों को सहन किया है, विभिन्न संस्कृतियों से हमारा संपर्क हुआ। परंतु यहाँ के लोगों की सहिष्णु एवं समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण भारतीय संस्कृति और अधिक परिपक्व और सुदृढ़ होकर हमारे सामने आयी। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण बाहर से आए हुए लोगों को विदेशी नहीं माना गया बल्कि उनके रीति- रिवाज, आचार-विचार, भाषा-व्यवहार का विरोध न कर उसको अपने में समाहित किया। जिससे सामासिक संस्कृति और प्रबल रूप से विकसित हुई। भारत में मुसलमानों, ईसाइयों, यहूदियों को आश्रय दिया गया और उन्हें अपनाया गया। आगे चलकर भी विभिन्न धर्मों के होने के बावजूद उनकी संस्कृति एक हो गयी। इसी विशेषता के कारण आज भारतीय संस्कृति में इतनी विविधता होने के उपरांत भी एकता दिखायी देती है। शर्मा (1995) ने सामासिक संस्कृति के संदर्भ में कहा है कि हमारे देश में भाषा, संस्कृति, जाति, धर्म और क्षेत्र की विविधताएँ हैं, इसके बावजूद भी संपूर्ण भारत का चिंतन एक जैसा है। यदि हम इन सभी के चिंतन के मूल में देखें तो काल और क्षेत्र की विभिन्नताओं के बावजूद उनमें एक अविभाज्य एकता दिखाई पड़ती है। अमीर खुसरो सामासिक संस्कृति के अग्रदूत थे। वह विविध धर्मों के प्रति उदार थे। खुसरो ने सभी संस्कृतियों के आदान-प्रदान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने संस्कृतियों में एकता का मुख्य कारण भाषा को समझा और सामान्य जन द्वारा बोलने, लिखने वाली भाषा को अपनाया। उन्होंने सभी भाषाओं को इस प्रकार मिलाकर अपनाया जिससे सांस्कृतिक सामाजिक सामंजस्य स्थापित करने में मदद मिली। खुसरो ने एक ऐसे शब्द भंडार का निर्माण किया जिसमें साधारण रूप से समझ में आने वाली फारसी और संस्कृत दोनों भाषाओं के शब्द थे, फिर उन शब्दों को प्रचलित बोलचाल की भाषा में व्यवहार करते हुए उस शैली का निर्माण किया जो आधुनिक हिंदी और उर्दू भाषाओं की जननी है। भारत और उसके साहित्य के लिए अमीर खुसरो की यह सबसे बड़ी देन है और उनका साहित्य सामासिक संस्कृति एवं बहुभाषिकता का सबसे उत्तम उदाहरण है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कला एवं संस्कृति का भाषा तथा साहित्य के विकास और समृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। किसी भी समाज की रोजमर्रा की जिंदगी में उसकी संस्कृति बस जाती है यानी उस समाज में रहने वालों का एक दूसरे के प्रति व्यवहार उनका परस्पर व्यवहार आदतें और वह किस तरह जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं का आनंद लेते हैं। इसमें कला और उसके जरिए अपनी भावनाओं और संस्कृति का प्रदर्शन भी शामिल है। भारत देश में लोग अलग-अलग धर्मों का प्रतिनिधित्व करते हैं लेकिन महत्वपूर्ण बात है कि उन सभी ने परस्पर मिलकर अपनी एक नई संस्कृति विकसित की जिसमे हिंदू-मुस्लिम बौद्ध जैन ईसाई आदि धर्म धर्मावलंबी को अपने धर्म और मान्यताओं के अनुरूप जीवन जीने की आजादी यहाँ मिली है यह आजादी पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही है और एक दूसरे की संस्कृतियों को अपने अपने भीतर आत्मसात कर सामासिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। सिंह (2015) के अध्ययन में भी विभिन्न संस्कृतियों के मिले जुले रूप को प्रस्तुत किया गया है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए इस लेख में सामासिक संस्कृति के निर्माण में बहुभाषिकता की भूमिका पर चर्चा की गई है।

सांस्कृतिक इतिहास, कला, भाषा, परंपरा, ज्ञान के सकारात्मक प्रभाव और सांस्कृतिक जुड़ाव से बच्चों में आत्मसम्मान की चेतना विकसित की जा सकती है। क्योंकि व्यक्तिगत एवं सामाजिक कल्याण के लिए सांस्कृतिक जागरूकता और अभिव्यक्ति का योगदान महत्वपूर्ण है। इसके लिए भाषा और संस्कृति मुख्य तत्व हैं। जैसा कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) में बहुभाषा और भाषा शक्ति को बढ़ाने की बात की गई है जिससे संस्कृति का संरक्षण, संवर्धन और विकास हो सके। इस लेख में सामासिक संस्कृति के निर्माण में बहुभाषिकता की भूमिका की ओर ध्यान दिया गया है।

**बहुभाषिकता का आशय**

बहुभाषावाद मानव संचार की विविधता का प्रमाण है, जो दुनिया भर के समाजों में भाषाओं के सह-अस्तित्व और परस्पर-मिलन के जटिल तरीकों को दर्शाता है। इस उपखंड में, बहुभाषिकता के अर्थ, प्रकार एवं महत्व की विधिवत वर्णन किया गया है। बहुभाषिकता और बहुसांस्कृतिक भारत की विशेषता है। आज के परिदृश्य में बहुभाषावाद ऐसी स्वाभाविक घटना मानी जाने लगी जो दुनिया भर में सांस्कृतिक पहचान के एक जीवंत और गतिशील पहलू के रूप में इसकी व्यापकता को पहचानते हैं। सामान्यत: बहुभाषिकता का अर्थ ऐसे व्यक्ति से है जो दो या अधिक भाषाओं का प्रयोग करता है। बहुभाषावाद शब्द का उपयोग यहाँ तीन या अधिक भाषाओं के उपयोग को संदर्भित करने के लिए किया जाता है और जहाँ उचित हो, द्विभाषावाद, दो भाषाओं के उपयोग से अलग किया जाता है। बहुभाषिकता क्या है, इसकी बुनियादी समझ अक्सर शोधकर्ताओं के लिए उनकी अलग-अलग पृष्ठभूमि और विचारधाराओं के आधार पर अलग-अलग होती है। इस संदर्भ में फ्लिन (2016) की परिभाषा इस प्रकार हैं: 'बहुभाषिकता एक देश या समुदाय या शहर में कई भाषाओं की मौजूदगी है 'बहुभाषिकता तीन या उससे ज्यादा भाषाओं का प्रयोग है' और 'बहुभाषिकता कई भाषाएँ बोलने की क्षमता है'। इस अर्थ में, बहुभाषिकता को व्यापक रूप से 'मानव जाति की एक स्वाभाविक अवस्था' माना जाता है । बहुभाषिकता कई भाषा को बोलने की क्षमता है। दुनिया की आधी से ज्यादा आबादी कम से कम दो भाषाएँ बोलने में सक्षम है, जबकि कुछ लोग तीन, चार या उससे भी ज्यादा भाषा बोलते हैं। कई भाषाएँ बोलने वाले सभी लोग उन सभी में समान रूप से सहज नहीं होते; हालाँकि, कुछ संस्कृतियाँ दूसरों की तुलना में बहुभाषिकता पर ज्यादा जोर देती हैं। जो लोग सिर्फ एक भाषा बोल सकते हैं उन्हें एकभाषी माना जाता है। किसी व्यक्ति की मूल भाषा, जो घर पर या उसके देश में बोली जाती है, उसे मातृभाषा कहा जाता है। किसी व्यक्ति को बहुभाषी माने जाने के कई प्रकार हैं जो इस बात पर निर्भर करते हैं कि कोई व्यक्ति कितनी भाषाएँ बोल सकता है। यह दोहराना जरूरी है कि बहुभाषावाद का मतलब सभी भाषाओं में समान या कुल प्रवाह नहीं है, बल्कि एक व्यक्ति द्वारा बोली जाने वाली सभी भाषाओं के बीच एक निरंतर परिवर्तनशील और संभवत: अद्वितीय संतुलन है। एक व्यक्ति को बहुभाषी माने जाने से पहले एक उचित मात्रा में प्रवाह की आवश्यकता होती है जो किसी व्यक्ति को ऐसी संस्कृति में रहने और काम करने की अनुमति दे जो उसकी दूसरी या तीसरी भाषा का उपयोग करती है। जो लोग बचपन में कई भाषाएँ सीखते हैं, विशेष रूप से अप्रवास के परिणामस्वरूप, वे वयस्कों की तुलना में अधिक धाराप्रवाह बहुभाषी होते हैं, जो बाद में एक नई भाषा सीखते हैं। द्विभाषीवाद का अर्थ है दो भाषाओं को धाराप्रवाह बोलना। आम तौर पर, इसका मतलब दो भाषाओं में पढ़ने और लिखने की क्षमता भी है, हालाँकि भाषण को द्विभाषीवाद का सबसे महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। जब कोई व्यक्ति बचपन में किसी नए देश में जाता है या जब उसके माता-पिता अप्रवासी होते हैं जो घर पर ऐसी भाषा बोलते हैं जो व्यापक संस्कृति में व्यापक रूप से नहीं बोली जाती है, तो उसका द्विभाषी होना आम बात है। उदाहरण के लिए, जो व्यक्ति बांग्ला और उड़िया दोनों बोल, पढ़ और लिख सकता है, उसे द्विभाषी माना जाएगा, भले ही उसकी मातृभाषा दोनों में से कोई भी हो। कभी-कभी, वयस्क होने पर लोग नए देश में जाने पर द्विभाषी बन जाते हैं। अन्य लोग ऐसे देश या क्षेत्र में बड़े होते हैं जहाँ लगभग सभी लोग दो भाषाएँ बोलते हैं, जिससे एक तरह की सांस्कृतिक रूप से एकीकृत द्विभाषिकता विकसित होती है। कुछ व्यक्ति जो भाषा विसर्जन कार्यक्रम में अपनी स्कूली शिक्षा पूरी करते हैं, वे अपनी दूसरी भाषा को इतना समझते हैं कि उन्हें द्विभाषी माना जाता है, लेकिन उन्हें आमतौर पर ऐसी संस्कृति में समय बिताने से लाभ होता है जहाँ उन्हें अपनी समझ को बढ़ाने के लिए हर समय अपनी दूसरी भाषा का उपयोग करना पड़ता है।

आज बहुभाषावाद का महत्व इसकी स्थानीय और निजी भूमिकाओं से कहीं अधिक व्यापक, वैश्विक महत्व में बदल गया है और यह दुनिया में सबसे आवश्यक सामाजिक प्रथाओं में से एक है। हाल के दशकों में, शिक्षा में बहुभाषावाद की भूमिका के बारे में चर्चा में वृद्धि हुई है। कई लोग, जिनमें कई बच्चे भी शामिल हैं, एक देश से दूसरे देश में जाते हैं और अपनी मातृभाषाएँ अपने साथ लाते हैं। इन व्यक्तियों को शिक्षा प्रणाली में सफल होने के लिए आवश्यक उपकरण प्रदान करने से न केवल बहुभाषी बच्चों को बल्कि कक्षा के सभी सदस्यों को मदद मिल सकती है, विद्यार्थियों के अनुभवों को समृद्ध कर सकते हैं और लोगों को अपनी संस्कृतियों के पहलुओं को सकारात्मक रूप से साझा करने में सहायता कर सकते हैं। कुछ देशों में, बहुभाषी शिक्षा पहले से ही आदर्श है, विशेषकर जब विद्यार्थी भाषाई रूप से विविध पृष्ठभूमि से आते हैं।

## सामासिक संस्कृति निर्माण में बहुभाषिकता की भूमिका

लेख के इस उपखंड में, संस्कृति और बहुभाषा की भूमिका पर चर्चा किया गया है। जिसमें कि विभिन्न सर्वेक्षण द्वारा भाषा और संस्कृति के बीच घनिष्ठ संबंध को स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है, जो इस दृष्टिकोण की पुष्टि करता है कि भाषा और संस्कृति एक दूसरे के बिना मौजूद नहीं हो सकती है। भारत देश में कई भाषाओं को बोलने वाले लोग निवास करते हैं। यदि हम लोग देखें तो 1971 की जनगणना में भाषायी विविधता की अधिकता दिखायी देती है, जिसमें हमारे देश में कुल 1652 भाषाओं की पहचान की गयी जो कि पाँच विभिन्न भाषा परिवारों के अन्तर्गत बोली जाने वाली भाषाएँ थीं, जबकि अन्नामलाई (2001) के अनुसार भारत में 71 भाषाओं का प्रयोग रेडियों में, 13 भाषाओं का सिनेमा और 13 भाषाओं का राज्य स्तर के प्रशासन में प्रयोग होता है, जबकि केवल 47 भाषाओं का प्रयोग विद्यालय के पठन-पाठन में माध्यम के रूप में होता है। इस प्रकार देखा जाय तो कई भाषाएँ, जो कि बच्चों के घरों में बोली जाती है, वे कक्षाओं तक नहीं पहुँचती। कई मामलों में भाषाई विविधता को कक्षाओं में मान्यता नहीं प्राप्त है। कार्यात्मक रूप से केवल 47 भाषाओं का प्रयोग विद्यालय के माध्यम के रूप में होता है, जबकि अन्य भाषाएँ हाशिए पर जा रही हैं। इनसे सम्बन्धित साहित्य के गहन सर्वेक्षण के बाद उपरोक्त समीक्षा के आधार पर देश में किये गये जो अनुसंधान प्राप्त हुए, उनमें दसवर्षीय स्कूल के लिए पाठ्यक्रम की रूपरेखा (1975), राष्ट्रीय पाठ्यक्रम की रूपरेखा (2005), भारतीय भाषाओं का शिक्षण राष्ट्रीय फोकस समूह का आधार-पत्र (2009), अग्निहोत्री (2009), यासीन (2013), कोवर व अन्य (2013), सिंह (2010), प्रपन्न (2005) इन अध्ययनों में भाषायी विविधता को कक्षा में अपनाने एवं बहुभाषा को बढ़ावा देने का सुझाव दिया गया। इस प्रकार बहुभाषिकता पर पटनायक (1990), पत्रा (2000), सेम्बिएंटे (2011), अग्निहोत्री (1995), खेजरी (2014) अध्ययनों के आधार पर हम पाते हैं कि बहुभाषिकता, संज्ञानात्मक विकास व शैक्षणिक उपलब्धि के बीच सकारात्मक जुड़ाव है, जिससे बच्चों के अकादमिक स्तर में वृद्धि होती है। बहु भाषा बोलने वाले बच्चे न केवल अन्य भाषाओं पर अच्छा नियन्त्रण रखते हैं, बल्कि शैक्षिक स्तर पर भी उनमें सामाजिकता और सहिष्णुता पाई गई है। भाषिक खजाने की व्यापक व्यवस्था पर नियंत्रण उन्हें विविध प्रकार की एवं विविध स्तर की सामाजिक परिस्थितियों से कुशलतापूर्वक जूझने में सहायक होता है। यह भी पाया गया है कि बहुभाषी बच्चे विविध सोच में ज्यादा अच्छा प्रदर्शन करते हैं। दो अलग-अलग भाषाओं में सोचने की क्षमता एक परिष्कृत मानसिक व्यायाम है जो बहुभाषी बच्चे को स्वाभाविक रूप से आता है। शब्दावली व व्याकरण के दो सेट सीखने की क्रिया तथा संज्ञानात्मक विकास में महत्वपूर्ण हैं। प्रपन्न (2005), राजसेकन एवं कुमार (2020), पई(2005), अवतंस (2008), शर्मा एण्ड सिंह (2013), ने अपने लेख में बताया है कि भाषा भी संस्कृति की तरह समुदाय विशेष है और जो संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है उससे गहनता से जुड़ी है। भाषाई विविधता और सांस्कृतिक विविधता ऐतिहासिक रूप से पीढ़ी दर

पीढ़ी के साथ ज्ञान वाहक का कार्य करती हैं। बच्चों के लिए संस्कृति और बहुभाषिकता को संसाधन के रूप में उपयोग किया जाना चाहिए। अत: बच्चों को उनके घर की भाषा, उनमें आसानी के साथ संवाद स्थापित करने की क्षमता के विकास में मदद करती है। इसके साथ उसकी अपनी समझ और आकार, उसमें दृष्टिकोण और मूल्य, परिवेश को प्रत्यक्ष करने में सक्षम उसकी अपनी भाषा बनाती है। बहुभाषिकता रचनात्मकता को बढ़ावा देती है। ज्ञानपोषित समाज, जिसमें मुख्य उत्पाद ज्ञान व विचार होते हैं, वहाँ स्थानीय भाषाओं में कार्य करने की उपलब्धता सूचना और ज्ञान के प्रवाह को सुगम बनाते हैं। यूरोपीय कमीशन, एजुकेशन एण्ड कल्चर (2009) ने अपने अध्ययन "रचनात्मकता के लिए बहुभाषा का योगदान" शीर्षक नामक प्रोजेक्ट में रचनात्मकता के लिए बहुभाषा के योगदान का वैज्ञानिक जांच किया। इस अध्ययन में पाया गया कि बहुभाषा हमारी रचनात्मक क्षमता को साकार करते हुए सभी क्षेत्रों में कार्य करती है। साथ ही कुछ ऐसे भी जैसे शोध अंकिता (2005), सिन्हा (2006), आचार्य (2016) ने विद्यार्थियों में विविध भाषा बोलने वाले भाषाओं की पहचान की, जो इस प्रकार है- हिन्दी 124, भोजपुरी 90, उर्दू 40, अंग्रेजी 02, संस्कृत 05, बंगाली 40, तमिल 13, तेलगू 11, गुजराती 10, मराठी 10, पंजाबी 12, मारवाड़ी 08, नेपाली 15, सिन्धी 05 एवं मलयालम 05, पायी गयी। जॉनसन (2015), पाणिग्रही (2017) ने अपने अध्ययन में पाया की देश के सांस्कृतिक व भाषायी विविधता में यहाँ के विविध धर्म, संस्कृति, समाज और अर्थव्यवस्था, शिल्प कौशल आदि विविधताओं के द्वारा सांस्कृतिक विविधता के विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) में भारतीय कला एवं संस्कृति का संवर्धन राष्ट्र के साथ सभी व्यक्तियों के लिए महत्वपूर्ण बताया है। विद्यार्थियों में अपनी पहचान और अपनेपन के भाव तथा अन्य संस्कृतियों और पहचान की सराहना का भाव पैदा करने के लिए सांस्कृतिक जागरूकता और अभिव्यक्ति जैसी प्रमुख क्षमताओं को विद्यार्थियों में विकसित करना आवश्यक बताया गया है। अत: संस्कृति हमारी भाषाओं में समाहित है। साहित्य नाटक संगीत फिल्म आदि के रूप में कला की पूरी तरह सराहना करना बिना भाषा के संभव नहीं है संस्कृति के संरक्षण संवर्धन और प्रसार के लिए हमें उस संस्कृति की भाषाओं का संरक्षण और संवर्धन करना होगा। सांस्कृतिक इतिहास कला भाषा एवं परंपरा की भावना और ज्ञान का सकारात्मक सांस्कृतिक पहचान और आत्मसम्मान बच्चों में निर्मित किया जा सकता है; क्योंकि व्यक्तिगत एवं सामाजिक कल्याण के लिए सांस्कृतिक जागरूकता और अभिव्यक्ति का योगदान महत्वपूर्ण है। इसके लिए भाषा और संस्कृति मुख्य तत्व हैं। जैसा कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) में बहुभाषा और भाषा शक्ति को बढ़ाने की बात की गई है। जिससे संस्कृति का संरक्षण, संवर्धन और विकास हो सके। इस लेख में संस्कृति के निर्माण में बहुभाषिकता की भूमिका की ओर ध्यान दिया गया है। सामासिक संस्कृति निर्माण में बहुभाषिकता प्रयोग के लाभ इस प्रकार हैं :

1. विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास में 'बहुभाषिकता' सकारात्मक प्रभाव डालती है।
2. बहुभाषिकता ज्ञान क्षेत्र, कार्य क्षेत्र, सम्पर्क क्षेत्र तथा विभिन्न क्षेत्रों की संभावनाओं का दायरा बढ़ाती है।
3. बहुभाषिकता विद्यार्थियों में न केवल बहुभाषाओं पर नियंत्रण रखना सिखाती है बल्कि शैक्षिक रूप से सृजनात्मक बनने में भी विशेष भूमिका निभाती है।
4. बहुभाषिकता विद्यार्थियों में संज्ञानात्मक वृद्धि, विस्तृत चिंतन, बौद्धिक उपलब्धियों तथा मानसिक योग्यता को सन्तुलित बनाए रखने में सहयोग करती है।
5. शिक्षार्थियों में बहुभाषिकता आत्मविश्वास, तार्किक क्षमता, विश्लेषण क्षमता तथा सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करती है।

6. बहुभाषिकता मस्तिष्क और सोचने-विचारने की क्षमता को और अधिक लचीला बना देती है।
7. शिक्षार्थियों की स्मृति, बोध व चिंतन स्तर को विकसित करने में बहुभाषिकता सहयोग प्रदान करती है।
8. बहुभाषी विद्यार्थियों में अधिक सामाजिक सहिष्णुता पायी जाती है। बहुभाषिक होने से भाषा को लेकर उत्पन्न होने वाले तनाव या संघर्ष से भी बचा जा सकता है।
9. बहुभाषिकता ने शिक्षार्थियों के लिए अनेक प्रकार के रोजगार, व्यापार एवं नौकरियों के उपयुक्त अवसर को पैदा किया है।
10. बहुभाषी होने के कारण वे विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में समायोजन करने की क्षमता अधिक होती है।
11. वैश्वीकृत दुनिया में बहुभाषिकता अधिक प्रतिस्पर्धी तथा अत्याधुनिक होने की क्षमताओं का विकास करती है।
12. बहुभाषिकता विविध संस्कृति को अपनाने व वैश्वीकरण की आवश्यकता को पूरा करने में सहायक होती है।
13. बहुभाषिक व्यक्तियों की अन्तःक्रिया अधिक से अधिक व्यक्तियों से होती है।
14. बहुभाषिकता विद्यार्थियों के संज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक पक्षों को विकसित करने में सहायता करती है।
15. अन्य भाषा को सीखने में सरलता होती है।
16. बहुभाषिकता अन्य भाषाओं की सूचनाओं व अन्य तथ्यों को जानने में सहायता करती है, साथ ही अन्य भाषा और साहित्य का रसास्वादन करने का अवसर प्रदान करती है।
17. विज्ञान और तकनीकी के विकास एवं सूचना-संचार के साधनों में बहुभाषिकता की अग्रणी भूमिका होती है।

भाषा केवल संचार का साधन नहीं है। यह एक प्रभावशाली शक्ति है जो हमारी पहचान के ताने-बाने में जटिल रूप से बुनी जाती है और हमारे सांस्कृतिक परिदृश्य को आकार देती है। इस संदर्भ में, हम पहचान निर्माण की जटिल प्रक्रिया में भाषा की गहन भूमिका को उजागर करने की यात्रा पर निकलते हैं। केवल शब्दों और वाक्यांशों से परे, भाषा उन संस्कृतियों के मूल्यों, विश्वासों और बारीकियों को प्रतिबिंबित करने वाला दर्पण बन जाती है, जिन्हें वह मूर्त रूप देती है।

अपने मूल में, भाषा एक ऐसा माध्यम है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने विचार, भावनाएँ और अनुभव व्यक्त करते हैं। हालाँकि, यह संचार के कार्यात्मक पहलुओं से परे है; यह सांस्कृतिक विरासत, सामाजिक मानदंडों और सामूहिक स्मृति के प्रसारण का एक माध्यम बन जाता है। जिस तरह से हम बोलते हैं, जो शब्द हम चुनते हैं, और जो भाषाएँ हम अपनाते हैं, वे हमारी व्यक्तिगत और सामूहिक पहचान बनाने और व्यक्त करने में महत्वपूर्ण तत्व हैं। भाषा, संक्षेप में, एक गतिशील दर्पण है जो दर्शाता है कि हम कौन हैं, हम कहाँ से आए हैं, और हम अपने आस-पास की दुनिया को कैसे देखते हैं। जैसे-जैसे हम पहचान निर्माण में भाषा की भूमिका की जटिल परतों में उतरते हैं, हमें पता चलता है कि यह एक सांस्कृतिक वृत्त के रूप में कैसे काम करता है, जो व्यक्तियों को उनकी विरासत के विविध परिदृश्यों के माध्यम से मार्गदर्शन करता है। बोलियों में निहित बारीकियों से लेकर कविता की वाक्पटुता तक, भाषा वह कलाकार बन जाती है जो हमारे जीवन के चित्र फलक

पर पहचान के चमकते हुए चित्र को चित्रित करती है।

हमारी परस्पर जुड़ी दुनिया में, बहुभाषावाद की घटना सांस्कृतिक ताने-बाने में जटिलता और समृद्धि की एक अतिरिक्त परत जोड़ती है। बहुभाषावाद केवल कई भाषाएँ बोलने की क्षमता नहीं है बल्कि यह विभिन्न भाषाई प्रणालियों के बीच एक गतिशील अंतर्क्रिया है जो हमारे समुदायों की बहुमुखी प्रकृति को दर्शाती है। यह अंतर्क्रिया आवाजों की एक समता  है, जिनमें से प्रत्येक हमारी सांस्कृतिक पहचान को परिभाषित करने वाली सामंजस्यपूर्ण विविधता में योगदान देती है। बहुभाषावाद की खोज के माध्यम से, हम उन तरीकों को जानेंगे जिनसे व्यक्ति भाषाओं के बीच सहजता से आगे बढ़ते हैं, अपनी अभिव्यक्तियों को सांस्कृतिक संदर्भ के अनुसार ढालते हैं। भाषाओं के बीच अंतर्क्रिया एक अनूठा संलयन बनाती है, एक ऐसे वातावरण को बढ़ावा देती है जहाँ सांस्कृतिक विविधता को न केवल अपनाया जाता है बल्कि इसे एक संसाधन के रूप में देखा जाता है। भाषाओं के इस अंतर्संबंध में ही हम सांस्कृतिक अंतर को पाटने, भाषाई विभाजनों के बीच समझ और एकता को बढ़ावा देने की बहुभाषावाद की क्षमता की खोज करते हैं। सांस्कृतिक मूल्यों के दर्पण के रूप में भाषा पहचान के केंद्र में संस्कृति निहित है, और भाषा एक विश्वसनीय दर्पण के रूप में खड़ी है जो हमें विरासत में मिली संस्कृतियों के मूल्यों, मानदंडों और जटिलताओं को दर्शाती है। हम जो शब्द चुनते हैं, जो मुहावरे हम प्रयोग करते हैं, और हमारे भाषण पैटर्न में निहित भाषाई बारीकियाँ सांस्कृतिक छापों के रूप में काम करती हैं, जो हमारी विरासत की समृद्ध ताने-बाने को प्रकट करती हैं। जब व्यक्ति किसी विशेष भाषा में संवाद करते हैं, तो वे अपने साथ अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के संचित ज्ञान, परंपराओं और साझा अनुभवों को लेकर चलते हैं। भाषा एक ऐसा माध्यम बन जाती है जिसके माध्यम से सांस्कृतिक मूल्यों को पीढ़ियों तक प्रसारित किया जाता है, जिससे निरंतरता और अपनी जड़ों से जुड़ाव की भावना को बढ़ावा मिलता है। चाहे वह संबोधन की औपचारिकता हो, सर्वनामों का चयन हो या विनम्रता की अभिव्यक्ति हो, ये भाषाई तत्व सांस्कृतिक मूल्यों को समाहित करते हैं जो पहचान की बहुमुखी प्रकृति में योगदान करते हैं। जब व्यक्ति भाषाई अभिव्यक्ति में संलग्न होते हैं, तो वे अनजाने में अपनी भाषा में निहित सांस्कृतिक अर्थों के भंडार से आकर्षित होते हैं। रूपकों का चयन, भाषण की लय और यहाँ तक कि कहानी कहने की संरचना भी भाषा के ताने-बाने में अंतर्निहित सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार, बहुभाषा न केवल संचार के साधन के रूप में उभरती है, बल्कि सांस्कृतिक पहचान के जीवंत भंडार के रूप में भी प्रकट करती है, जो व्यक्तियों को अपनी सांस्कृतिक विरासत को व्यक्त करने, जश्न मनाने और उसे बनाए रखने की अनुमति देती है।

संदर्भ :


- अन्नामलाई, ई. (2001), *मैनेजिंग मल्टीलिगुल्अलिज्म इन इण्डिया: पोल्टीकल एण्ड लिंगुस्टिक मनिफेस्टेज़न्स.* न्यू दिल्ली: सेज पब्लिकेशन।
- अवतंस, अभिषेक (2008) भाषाई विविधता और ज्ञानपोषित समाज, रिट्राइव्ड फ्राम : https://rapidiq.wordpress.com/2008/10/07 रिट्राइव्ड ऑन 13.06.2018.
- आचार्य, अं. (2016), *वाराणसी शहर के मुख्य अल्पसंख्यक भाषाभाषी समुदायों का समाजभाषिक अनुशीलन,* (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध), भाषा विज्ञान लखनऊ विश्वविद्यालय, प्राप्त किया *https://shodhganga.inflibnet.ac.in/handle/10603/43680*
- अग्निहोत्री, रमाकान्त (1995), बहुभाषिकता: एक कक्षा स्रोत, अनुवादक तिवारी, निशी (2013), *शैक्षणिक संदर्भ* 28(85), 43.53. *https://www.eklavya.in/pdf/sandarbh/sandarbh-85/43-53 multilingualism_A_classroom_Resource.pdf.p.43-53.*

- कुमार, कृष्ण (2000). *बच्चे की भाषा और अध्यापक : एक निर्देशिका*, नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट।
- खेजरी, मेरी (2014), टीचर्स एट्टीटूयूड टूवर्स द यूज ऑफ मदर टंग एज ए लैंग्वेज ऑफ इंस्ट्रक्शन इन लोउर प्राइमरी स्कूल इन हामिसी डिस्ट्रिक, केन्या. *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ ह्यूमनीटीएज एण्ड सोशल साइन्स, 4(1)*, पृ. 75-85. रिट्राइव्ड फ्राम : *http://www.ijhssnet.com/journals/Vol_4_No_1_January_2014/9.* रिट्राइव्ड ऑन 11.05.2016.
- जॉनसन, टाव (2015). *मल्टीकल्चर इज नॉट प्राब्लम बट द डाइवर्स बैकग्राउडस आर : ए स्टडी एबाउट फाइव टीचर्स थार्टस एबाउट मल्टीकल्चर टीचिंग इन गर्वनमेंट स्कूल इन बनारस.* (डिग्री पेपर), 15 एच.पी. टीचर प्रोग्राम. रिट्राइव्ड फ्रॉम *: https://www.diva-portal.org/smash/get/diva2:787075/FULLTEXT01.* रिट्राइव्ड ऑन 16.09.2019.
- पटनायक, डी. पी. (1990). मल्टीलिगुल्अलिज्म इन इण्डिया. रिव्यु बॉय एंटोनी जॉन कुनॉन. *इश्यू इन अप्लाइड लिंगुस्टिक जर्नल, वोल्युम 3(1).* रिट्राइव्ड फ्रॉम https://escholarship.org/uc/item/541548n0 रिट्राइव्ड ऑन 02.11.2019.
- प्रपन्न, कौशलेन्द्र (2005). भाषायी विविधता का उत्सव. प्राप्त किया. *gadyakosh.org/gk./.*
- पत्र, स्वाति (2000). रोल ऑफ लैंग्वेज ऑफ मल्टीलिगुल्अलिज्म इन स्कूल सिस्टम ऑफ इण्डिया. *अनपब्लिसड डिजर्टेशन,* डिर्पाटमेंट ऑफ साइकलॉजी उड़ीसा : उत्कल यूनीवर्सिटी. रिट्राइव्ड फ्रॉम: http://hdl.handle.net/10603/118746 रिट्राइव्ड ऑन 11.05.2019.
- पई, पुष्पा (2005). मल्टीलिगुल्अलिज्म, मल्टीलिगुल्अलिज्म एण्ड एजुकेशन: केश स्टडी ऑफ मुंबई सिटी. प्रोसिडिंग ऑफ द 4 इंटरनेशनल सिम्पोजियम ऑन बाइलिगुल्अलिज्म. रिट्राइव्ड फ्रॉम: *http://www.lingref.com/isb/4/141ISB4.* रिट्राइव्ड ऑन 11.08.2019.
- पणिग्रही, अमरेश (2017). *कल्चर डाइवर्सिटी ऑफ वाराणसी एण्ड इट्स इमपैक्ट ऑन विजुअल आइडिन्टी ऑफ सॉफ्ट स्टोन क्रॉफ्ट, रामनगर: ए परस्पेक्टिव ऑफ डिजानइ लेड इनोवेशन टू एम्पेथीज मल्टिप्लिसिटी* (प्रोजेक्ट वर्क). *https://s3.amazonaws.com/academia.edu.documents/58508168 से प्राप्त किया.*
- *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005).* नई दिल्ली : एन.सी.ई.आर.टी.*www.ncert.nic.in* प्राप्त किया 11.08.2022.
- दसवर्षीय स्कूल के लिए पाठ्यक्रम एक रूपरेखा (1976). नई दिल्ली : एन.सी.ई.आर.टी. प्राप्त किया. 07/01/2017. *www.ncert.nic.in*
- *भारतीय भाषाओं का शिक्षण राष्ट्रीय फोकस समूह का आधारपत्र (2009).* नई दिल्ली : एन.सी.ई.आर.टी.
- राजसेकन, सुभाषिनी एवं कुमार, राजेश (2020). चैलेन्जेज एण्ड स्ट्रेटेजी फॉर मल्टीलिंगुअल एजुकेशन इन इण्डिया. *ए जर्नल आर्फ टीचिंग इंग्लिश लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर ऑनलाइन*: 2394-9244. रिट्राइव्ड फ्रॉम : *http://www.fortell.org/content/challenges-and-strategies-multilingual-education-india* रिट्राइव्ड ऑन 18.10.2019.
- यासीन, मु. (2013). प्रेरणा की भूमिका. अन्तरराष्ट्रीय शैक्षणिक फोरम, प्रप्त किया *www.iafor.org.* dated 03.02.2016
- यूरोपीय कमीशन, एजुकेशन एण्ड कल्चर (2009). *स्टडी ऑन द कॉन्ट्रीब्यूज़न ऑफ मल्टीलिंगुअलिस्म टू क्रिएटिविटी.* रिर्पोट पब्लिक सर्विस कॉन्ट्रैक्ट. *http://www.dylan-project.org/Dylan_en/news/assets/StudyMultilingualism_report_en.pdf*
- शर्मा, देविका एण्ड सिंह, सुनीता (2013). मल्टीलिगुल्अलिज्म इन अर्ली चाइल्डहुड एजुकेशन क्लासरुम : रेसनेल, चैलेन्ज एण्ड पॉसबिलिटिज- ए पॉलिसी ब्रीफ. दिल्ली: अम्बेडकर यूनीवर्सिटी, सेन्ट्रल फॉर अर्ली

चाइल्डहुड एजुकेशन एण्ड डेवलपमेंट. रिट्राइव्ड फ्रॉम: http://ceced.net/ECED%20Brief%205.pdf रिट्राइव्ड ऑन 22.06.2018.

- सिन्हा, अंजलि (2006). *मल्टीलिंगुअलिस्म इन अर्बन वाराणसी* (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) डिपार्टमेंट ऑफ लिंग्विस्टिक, फैक्लटी ऑफ आर्ट. बी.एच.यू., वाराणसी.
- सेम्बिएंटेए सबरीना (2011). ए रिव्यू ऑफ लैंग्वेज डाइवर्सिटी इन द क्लासरूम, लैंग्वेज एण्ड एजुकेशन, 25(1), 84.87. रिट्राइव्ड फ्रॉम: https://www.researchgate.net/publication/254327471
- सर्राफ, अंकित (2005). लैंग्वेज एजुकेशन एण्ड सोसाइटी मल्टीलिंगुजम इन इंडिया. *लैंग्वेज एण्ड लैंग्वेज टीचिंग 3(2).* रिट्राइव्ड फ्राम: *http://apfstatic.s3.ap-south-1.amazonaws.com/s3fs-public/Language%2C%20Education%20and%20Society_Multilingualism%20in%20India.pdf* रिट्राइव्ड ऑन 11.08.2018.
- हैलिडे, एम. ए. के. (1993). टूवर्डस ए लैंग्वेज-बेस्ड थ्योरी ऑफ लर्निंग. *लिंग्विस्टिक एण्ड एजूकेशन. 5*, 93.116. रिट्राइव्ड फ्राम: *http://lchc.ucsd.edu/mca/Paper/JuneJuly05/HallidayLangBased.pdf*
- Flynn, S. (2016) What do we mean by 'Development' in multilingual language acquisition: Where do we start, where do we end and how do we get there? Plenary presentation at the 10th International Conference on Third Language Acquisition and Multilingualism, 1–3 September, University of Vienna.
- https://thirdlanguage2016.univie.ac.at/keynote-speakers/suzanne-flynn/

❑❑❑

सत्राची फाउंडेशन, पटना

शोध, शिक्षा एवं प्रकाशन की समाजसेवी संस्था

**यह संस्था –**

– साहित्यिक सम्मान देती है।

– शोध पत्रिकाएँ प्रकाशित करती है।

– पुस्तकें प्रकाशित करती है।

– सेमिनार आयोजित करती है।

– राजभाषा/राष्ट्रभाषा सेवियों को प्रोत्साहित करती है।

– शोधकर्ताओं को स्तरीय शोध के लिए प्रोत्साहित करती है।

– नेट/जे.आर.एफ. के अभ्यर्थियों को निःशुल्क मार्गदर्शन देती है।

– हिन्दी साहित्य के शिक्षार्थियों को प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए तैयार करती है।